सस्ता-साहित्य-मण्डल

दूसरा ग्रन्थ [२]

जीवन-साहित्य

[दूसरा भाग]

[काका कालेलकर के निबंधों का संग्रह]

अनुवादक

श्रीनिवासाचार्य द्विवेदी

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल,

अजमेर

तीसरी बार १५००
सन् उन्नीस-सौ-बत्तीस
मूल्य दस आने
संशोधित एवं परिवर्तित
संस्करण ।

मुद्रक—
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य-प्रेस,
अजमेर ।

प्रथम संस्करण का वक्तव्य

गुजरात विद्यापीठ के आचार्य काका कालेलकर की लेखनी में कुछ ऐसी विलक्षण प्रसन्नता है कि वह गहन-से-गहन विषयों भी सरल और मनोरंजक बनाकर हमारे सामने रख देती है। काका साहेब द्वारा लिखित 'जीवन-साहित्य' के प्रथम भाग का पाठकों ने जिस प्रेम के साथ स्वागत किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। और इसीलिए 'जीवन साहित्य' का यह दूसरा भाग उनकी सेवा में समर्पित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। इसमें शिक्षा, तत्त्वज्ञान, और राजनीति पर काका साहब के मौलिक एवं प्रौढ़ लेख पढ़कर पाठक और भी प्रसन्न होंगे। श्रीमान् बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने इस पुस्तक के प्रथम भाग की भूमिका में लिखा है 'हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचारों पर उन्होंने नई रोशनी डाली है।' अतः यह पुस्तक प्राचीनता का अनुगमन करनेवाले पुराण-प्रिय लोगों, एवं सुधारक होने का अभिमान करनेवाले नवीन रोशनी के युवकों के लिए भी एक-सी लाभदायक है। हमें आशा है 'जीवन-साहित्य' के इस द्वितीय भाग को भी हिन्दी-भाषी जनता उसी तरह अपनावेगी।

प्रकाशक

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

[दूसरा भाग]

ॐ

१—शारदा का उद्बोधन

२—जीवन-कला

३—सत्य-निर्णय

४—राष्ट्र-पूजा

५—धर्म-भूमि

६—भावना की तिजोरी

काका कालेलकर

ॐ

(एक प्रवचन)

ॐकार हमारा सर्व-श्रेष्ठ मन्त्र है। उसका दर्शन और श्रवण दोनों गम्भीर और आल्हादजनक हैं। इस प्रणव का रहस्य-उद्घाटन करने के लिए ऋषियों ने एक पूरी उपनिषद् लिख डाली फिर भी उसका पूर्ण रहस्य नहीं खुला। इस ॐ का क्या अर्थ है? ॐ के मानी हैं सनातन 'हाँ'। संशय, अश्रद्धा, नास्तिकता आदि सबको एक स्मित से दूर करने की शक्ति इस प्रसन्न 'हाँ' में भरी हुई है। ॐ कहता है ब्रह्म है, यह संसार है, भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध जैसा चाहें, आप जोड़ दें—कल्पना कर लें—वह सब-कुछ है। इसलिए सब एक ही है; कुछ न हो सो नहीं। जहाँ ॐ है, वहाँ असत्य के लिए स्थान ही नहीं।

यही सत्य-नारायण है। यही हमारा प्रिय सखा है। इसके नजदीक रहकर हम सब सुखी हैं। जीवन-यात्रा में कितने ही मार्ग हमें ललचाते हैं, पद-पद पर शंका होती है। हम समझ नहीं पाते कि सर्वोच्च आदर्श कौन-सा है। क्षण-क्षण पर धर्म-संकट उपस्थित होते हैं। पर आप इस प्रिय सखा ॐ अथवा शुद्ध सत्य का पाणि-ग्रहण करके चलिएगा। फिर आपको कहीं भय न होगा। समाज-सेवा करनी है? ठीक है कीजिएगा। पर सत्य का हाथ छोड़कर नहीं। दान-परोपकार करना चाहते हैं? अवश्य, पर सत्य के प्रति वफादार जरूर बने रहिए। शास्त्रों की रचना करनी है? शौक से, पर जरा सम्हलकर, जहाँ तक सत्य ले जाय—वहीं तक। और सबका साथ करने से भय हो सकता है। पर जिस प्रकार बालक के लिए उसकी माता

परम आप्त एवं परम कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार सत्य मनुष्य के लिए है। शेष सब बात बाह्य है।—या तो उन्हें प्राप्त करना पड़ता है या उन्हें विकसित करना पड़ता है। पर सत्य तो हमारे जितना ही, बल्कि हम से भी अधिक पुराना है। बधू सुसराल के सभी मनुष्यों की श्रद्धा-पूर्वक सेवा करती है। पर अपनी निष्ठा तो वह पति को ही अर्पण कर देती है। उसी प्रकार, चाहे आप जिस क्षेत्र में काम कीजिए, कोई भी जिम्मेदारी का काम या साधना शुरू कीजिए, पर अपने इस प्रिय सनातन साथी को कभी न भूलिए। इसका साथ कभी न छोड़िए। इसी के पीछे संसार भी है। यही ईश्वर भी है। अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करने पर आप देखेंगे कि आत्मा भी इससे भिन्न नहीं है। सत्य के मानी केवल व्यावहारिक प्रामाणिकता ही नहीं है। सत्य के मानी केवल यथार्थ कथन नहीं। सत्य तो शुरू से ही हमारे साथ है। ज्यों-ज्यों हम उन्नति करते जाते हैं, त्यों-त्यों हमें उसका सूक्ष्मतर दर्शन होता जाता है। वास्तव में ऐसा एक भी प्राणी न होगा जिसे सूक्ष्म नहीं तो स्थूल सत्य के भी दर्शन न हुए हों। इसीलिए सबको आशा है, और जिम्मेदारी है। सत्य का दर्शन ही जीवन का सार है। शेष सब निःसार ही समझिए। अपने उस हृदयेश्वर को हमें धोखा नहीं देना चाहिए। वह हमें कभी धोखा नहीं देगा। वह कल्याणकारी है। यह उसकी एक सुन्दरता है, सिफारिश नहीं। उसकी सिफारिश तो यही है कि वह सत्य है। उससे उत्पन्न होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्तिम फल सत्य ही है, इसका अनुभव मिलने पर ॐ ही हमारा महाकाव्य हो जाता है। उसकी रटन ही में हमारा अखण्ड समाधान है।

ॐ ॐ ॐ

शारदा का उद्बोधन

१—शारदा का उद्बोधन

२—केवल शिक्षा

३—शिक्षा-शास्त्री का कर्त्तव्य

४—आवश्यक दृष्टि

शारदा का उद्बोधन

हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि किस नवमी के दिन सुरों ने शारदा का उद्बोधन किया। पर अवश्य ही वह बड़ा ही शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त होगा। समृद्धिदायिनी वर्षा के बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसी में देवों को शारदा का दर्शन हुआ। पृथ्वी ने अभी नील रंग को छोड़ नहीं दिया है। परिपक्व धान्य सुवर्ण-वर्ण को धारण करने लगा है। ऐसे ही समय पर देवों ने शारदा का ध्यान किया। सज्जनों के हृदय के समान स्वच्छ जल में विहार करने वाले कमल, और आकाश में अनन्त काव्य के फव्वारे छोड़ने वाला चन्द्र जब एक-दूसरे का ध्यान कर रहे थे, तभी देवों ने शारदा का आवाहन किया था। शारदा आई, और पृथिवी के वदन-कमल पर हास्य नाचने लगा। शारदा के आते ही वन-श्री का गौरव बढ़ा। शारदा के आते ही घर-घर समृद्धि फैली। शारदा के आते ही वीणा का झंकार शुरू हुआ; और संगीत का नृत्य भी ठौर-ठौर आरम्भ हुआ।

शारदा का स्वरूप कैसा है? बाला? मुग्धा? प्रौढ़ा? या पुरन्ध्री? शारदा मंजुल-हासिनी बाला नहीं, मनोमोहिनी मुग्धा नहीं, विलास-चतुरा प्रौढ़ा भी नहीं। वह नित्य-यौवना पर स्तन्य-दायिनी माता है। वह हमारे साथ खेलती है, हँसती है; पर वह

हमारी सखी नहीं, माता है। हम उसके साथ बालोचित क्रीड़ा कर सकते हैं, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि हम माता के सम्मुख खड़े हैं। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृतनिधान। 'न मातुः परं दैवतम्।' यह वचन किसी उपदेशप्रिय स्मृतिकार का नहीं है। यह तो किसी मातृःपुत्र धन्य बालक की अमृतवाणी है।

सृष्टि के ऐक्य को अनुभव करने वाले हम आर्य-संतान एक शब्द में कई अर्थों को देखते हैं। शारदा का अर्थ है सरोवर में खिलनेवाले कमलों की शोभा। शारदा है आश्विनी-पूर्णिमा, और दीपावली की शोभा। शारदा है यौवन-सहज-व्रीडा। शारदा है कृषि-लक्ष्मी। शारदा है साहित्य-सरिता। शारदा है ब्रह्म-विद्या, चिच्छक्ति। शारदा है विश्व-समाधि। यह हमारी माता, हम उसके बालक। कैसी धन्यता! कैसी स्पृहणीय पदवी! कितना बड़ा अधिकार! और साथ ही कितनी बड़ी दीक्षा!

जिन लोगों को शारदा के स्तन्य का स्पर्श हुआ है, वे अपवित्र वाणी का उच्चार नहीं करेंगे, निर्बलता के वचन नहीं उचारेंगे, द्वेषोद्गार नहीं निकालेंगे, पाप को नहीं सजावेंगे, पौरुष का हनन नहीं करेंगे और न मुग्धजनों को ठगेंगे।

शारदा के मंदिर में सर्वोच्च कला हो, कला के नाम विलसती विलासिता नहीं! शारदा के भवन में प्रेम का वायुमण्डल हो, सौंदर्य का मोहन नहीं। शारदा के उपवन में प्राण का स्फुरण हो, निराशा का निःश्वास नहीं। शारदा की लता-कुंजों में विश्वप्रेम का संगीत हो, परस्पर अनुनय का कल-कूजन नहीं। शारदा के विहार में स्वतन्त्रता की धीरोदात्त गति हो, उद्देश्यहीन और स्खल-

नशील पद-क्रम नहीं । शारदा के पीठ में ब्रह्मरस का प्रवाह हो, विषयरस का उन्माद नहीं ।

माता शारदा ! हमें ऐसा आशीर्वाद दे कि जिससे तेरा अखण्ड स्मरण हमें बना रहे । हम अधिकारी हो जायँ, तब तेरा दर्शन भी हो । जब कभी हमारा ध्यान अविचल हो, और हमारी भक्ति एकाग्र और उत्कट हो, तब हमें अपनी दीक्षा देना । और तेरी सेवा के पूरी तरह योग्य बन जाने पर, हमें एक मात्र तेरी सेवा की ही धुन रहे यही भिक्षा देना । तुझे कोटिशः प्रणाम है ।

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ।

केवल शिक्षा

नेपोलियन बोनापार्ट ने जब मिश्र पर चढ़ाई की, तब शास्त्रीय और ऐतिहासिक खोज करने के लिए वह अपने साथ में कितने ही पण्डितों को भी ले गया था। मिश्र के अरबी घुड़सवारों की युद्ध-नीति कुछ विचित्र ही थी। देश-भर में उनके दल के-दल घूमते, और जहाँ-कहीं शत्रु की सेना जरा भी असावधान दिखी कि वे कहीं से एकदम चढ़ आते और आक्रमण कर देते। इस स्थिति का सामना करने के लिए नेपोलियन ने एक नये तर्ज की व्यूह-रचना की। अपनी सेना में एक पोला चौरस बनाकर वह कूच करता। कूच करते समय सभी एक ही तरफ़ मुँह करके चलते थे किन्तु शत्रु के आने की खबर मिलते ही सभी सेना ठहर जाती और चारों तरफ़ के वीर चारों ओर मुँह घुमाकर खड़े हो जाते। अर्थात् किसी भी तरफ़ शत्रु को इस सेना की बग़ल या पीठ नहीं दिखाई देती। सेना के साथ पंडित और बोझा उठानेवाले गधे भी रहते थे। अरबी घुड़सवारों के दल को देखते ही नेपोलियन एकदम आज्ञा करता "चौरस बनाओ, गधे और पंडित बीच में।" (Form square. Asses and savants in the centre) नेपोलियन के सिपाही कई बार जोर से हंसकर उसके हुकम का उच्चारण करते "चौरस बनाओ, गधे और पंडित बीच में।" कई बार फ्रेंच सैनिक गधों को अर्ध-पण्डित कहते। इस तरह मज़ाक करते समय सिपाहियों के दल में पंडितों के प्रति कम आदर नहीं हो

जाता था। सेना के साथ-साथ घूमनेवाले पंडित भी कम मुसीबतें नहीं झेलते थे।

यह किस्सा नेपोलियन के चरित्र से लिया गया है। स्वराज्य की हलचल में राष्ट्रीय शिक्षा की हिमायत करनेवाले हम शिक्षकों को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। हम स्वराज्य के सैनिक बनना चाहते हैं या सेना की सुरक्षितता में खोज और आविष्कार करने वाले पण्डित? निःसन्देह गाँव-गाँव घूमकर व्याख्यान झाड़नेवाले व्याख्याताओं, और समाचार-पत्रों में कालम-के-कालम रंगनेवाले लेखकों की अपेक्षा राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य अधिक उच्च, अधिक महत्वपूर्ण, और हमारे आन्दोलन के लिए अधिक लाभदायक है। पर यह तभी होगा जब हम अपनी शक्ति और तपस्या का उपयोग स्वराज्य के लिए करेंगे। शिक्षा के गहन सिद्धान्तों की चर्चा भी हमें अभी करना ही है। मानस-शास्त्र और समाज-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र और धर्म-शास्त्र आदि सब का उपयोग करके राष्ट्रीय शिक्षा को हमें सजा देना चाहिए। यदि खराब पद्धति से हम पढ़ावेंगे तो उसका परिणाम भी निःसन्देह खराब ही होगा। पर इन सब बातों का निवेदन स्वराज्य के चरणों में कर देना जरूरी है। हमारा वर्तमान आन्दोलन राजनैतिक नहीं है। वह तो राष्ट्रीय आन्दोलन है। राज-तंत्र में किंचिन्मात्र पैर फैलाने का अवकाश प्राप्त करने के लिए नहीं, स्वराज्य की प्राप्ति के लिए है। संक्षेप में कहना चाहें तो राष्ट्रीय मृत्यु से बचकर, गुलामी का कलंक धोकर समाज में, धर्म-जीवन के सिद्धान्त प्रचलित करना इसका उद्देश है। देवासुर-संग्राम में देवों की सहायता करना इसका उद्देश है। राष्ट्रीय शिक्षकों को इस सेना में सब से आगे रहना चाहिए। सेना-

द्वारा सुरक्षित परदे में हम नहीं रहेंगे। बल्कि जगह-जगह घूमकर उसे उत्साह देंगे, घायलों की मरहमपट्टी करेंगे, प्यासों को पानी पिलावेंगे, हतोत्साहों में वीर-श्री का संचार करेंगे, योद्धाओं को बंदूकें भर-भर कर देंगे। और ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता जायगा त्यों-त्यों नवीन सैनिकों को इकट्ठा करने के लिए रिक्रूटिंग आफीसर (रंगरूट भरती करनेवाले अधिकारी) बनकर गांव-गांव घूमेंगे, और युद्ध का रहस्य समझावेंगे।

शिक्षा कितना महत्वपूर्ण विषय है, कितना पवित्र पेशा है, इसे अभी लोग जानते ही नहीं। लोग नहीं जानते कि शिक्षा में वही शक्ति है जो धर्म में है। स्वराज्य का युद्ध शिक्षा को सोलहों कलाओं में प्रकाशित कर दिखाने का सुन्दर अवसर है। इस युद्ध में शिक्षा और शिक्षाकारों का सबसे बड़ा हिस्सा होगा तभी लोग शिक्षा के महत्व को कबूल करेंगे। "हम तो शिक्षाकार हैं, शिक्षा से बाहर हम अपना ध्यान नहीं बटावेंगे। स्वराज्य से हमारा कोई वास्ता नहीं, राजनीतिज्ञ लोग राष्ट्रीय हलचलों में भले ही सिर खपावें। हम तो तटस्थ ही रहेंगे। स्वराज्य का प्रश्न तो दो दिन का है। हम तो अनन्तकाल का विचार करते हैं, सनातन सिद्धान्त के अनुसार बरतते हैं।"

इस तरह की दलीलें पेश करनेवाले जो लोग हैं, वे स्वराज्य के मानी तक नहीं जानते। स्वराज्य नहीं मिले तो शिक्षा के तमाम सिद्धान्त और पद्धतियाँ धूल के समान हैं। परतंत्रता का कलंक सिर पर धारण कर दुर्बल हृदय से दुर्बल बच्चों को दुर्बल शिक्षा देने में हमारी, हमारे बच्चों की और हमारे पेशे की भी बदनामी है।

शिक्षा-शास्त्री का कर्त्तव्य

[एक-दो विचार]

लोकमान्य तिलक की एक-दो बातें पुनः-पुनः याद आती हैं। वे कहते थे कि कवि स्वयंभू होते हैं, उन्हें कोई बनाता नहीं। इसमें जितना सत्य है, उतना ही सत्य इस कथन में भी है कि अध्यापक और सम्पादक भी स्वयंभू होते हैं। उनको हमेशा यह अंतःस्फूर्ति होती रहती है कि संसार को देने के लिए मेरे पास कुछ है। यदि मैं वह संसार को नहीं दे दूँगा तो संसार डूब जायगा। जिसने अपने जीवन का पूरा विचार कर लिया हो, जिसके दिल में यह बात पूरी तरह जम गई हो कि अपने सामाजिक जीवन के लिए मैं जवाबदेह हूँ, उसी में वह वृत्ति उत्पन्न हो सकती है जिसका जिक्र लोकमान्य ने किया है।

वही शिक्षक स्वयंभू हो सकता है जो इस बात का समझ गया है कि शिक्षा जीवन-भर के लिए है—वह जीवनव्यापिनी हो सकती है। शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा के विषय और उसकी पद्धतियाँ ये सभी हमारे जीवन का विषय हैं—जीवन को सार्थ-समृद्ध और सफल करने के लिए हैं। साथी-बराती यदि वधू-वर को घर में से निकाल दें तो कैसे काम चले ? उसी प्रकार जीवन के प्रश्न को अलग रखकर यदि कोई शिक्षा देने का प्रयत्न करे तो

वह कैसे काम कर सकता है ? तथापि गत सौ-पचास वर्षों में हम क्या करते आये हैं ? हमारे समाज-सेवकों ने जीवन-चर्या में शिक्षा को प्रधान स्थान नहीं दिया । और हमारे शिक्षा-शास्त्रियों ने अपनी चर्चा में जीवन-रहस्य को कहीं स्थान नहीं दिया। इसीलिए शिक्षा पर अनेक बालकों का जीवन और धन का व्यय होने पर भी समाज शिक्षा में अबतक दिलचस्पी नहीं ले रहा है और न स्वयं शिक्षा ही आनन्ददायक बन पाई है । फिर स्वयंभू शिक्षकों का समय देश में कैसे आ सकता था ?

जिस काल को हम आधुनिक समय कहते हैं उसमें तीन-चार ऐसी हलचलें हो गई हैं जिन्होंने हमारे सामाजिक जीवन को जड़ से हिला दिया । उन हलचलों की धारायें इतने वेग से चढ़ दौड़ीं कि लोगों के पैरों के नीचे किसी प्रकार का आधार नहीं रहा। इसका प्रभाव हमारे जीवन पर भी पड़ा, जिसे हम भलीभांति देख सकते हैं। हमारे यहाँ धार्मिक सुधारक पैदा हुए। उन्होंने हमारे धार्मिक विचारों और धर्मजीवन का इतने जोरों से मंथन किया कि समाज को यह शंका हो गई कि हमारे पास हमारा-अपना कुछ रहेगा भी या नहीं। पर इस मंथन के परिणाम-स्वरूप स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, घोष, गाँधी-जैसे धर्म-सुधारक पैदा हुए और उन्होंने हिन्दूधर्म को नवीन चैतन्य प्रदान किया । इतना ही नहीं बल्कि समाज में अत्यन्त गूढ़ और सूक्ष्म विचारों को फैलाकर उन्हें झेलने की शक्ति उसमें जागृत की। निद्रित समाज जब खड़बड़ा कर जाग उठा तब उन्होंने उसे मार्ग पर लगाने का काम किया ।

अब हमारे यहाँ समाज-सुधारकों की फसल आई। उन्होंने

भी जातिव्यवस्था, वैवाहिकरूढ़ियाँ, स्त्रियों का समाज में स्थान आदि प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति का हल चलाया। इस जोत के फलस्वरूप जाति-परिषदें हुईं, पारस्परिक विरोध बढ़ा; पर अन्त में सामाजिक जीवन जागृत हुआ और ये लोग भी समाज-शास्त्र पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे।

देश में राजनैतिक विचारों की क्रान्ति शुरू हुई और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। समाज-सुधार और राजनैतिक-सुधार के बीच द्वंद्व छिड़ा। महासभा में दलबन्दी हुई। राजनैतिक पुरुष और "लेभग्गू" वक्ता देश के कोने-कोने में जा पहुँचे—अथवा यह कहना अधिक सार्थक होगा कि दौड़ आये। देश के प्रत्येक मनुष्य को उन्होंने राजनैतिक परिस्थिति और राजनैतिक सिद्धान्तों पर विचार करने में लगा दिया। बड़ी-बड़ी हलचलें खड़ी हुईं और संसार के राजनैतिक विचारों में हमने भी अपना हिस्सा अर्पित किया।

इन तीनों धाराओं में वीरता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। धर्म-सुधारक धर्म के नाम पर मिटे हैं। समाज-सुधारक अपने ही देशबन्धुओं के तिरस्कार और जुल्म के शिकार हो गये और आज मृत्यु से भी अधिक विषम स्थिति में दिन काट रहे हैं। राजनैतिक सुधारकों के आत्म-बलिदान का तो कहना ही क्या? उनका जीवन तो सरकार के गुप्तचरों की शनिदृष्टि, कारावास, स्वदेश-निकाला, फाँसी और सामाजिक बहिष्कार का मानों एक दीर्घ महोत्सव ही है। इन तीनों वीरों के दिल में किसी समय यह विचार नहीं आया कि हमारा विषय लोगों को प्रिय होगा या

नहीं ? लोग हमारी बातों को सुनेंगे भी या नहीं ? इस चिन्ता ने भी इन्हें नहीं सताया कि हमारी हलचल के लिए चन्दा भी मिलेगा या नहीं ?

'लाइफ पॉलिसी' पर विधवा की तरह जीवन व्यतीत करने की इच्छा से स्थायी फंड की व्यवस्था करने के झंझट में भी वे नहीं पड़े। उन्हें तो अपना उत्साह ही लिए जा रहा था। अपने काम के महत्व और स्थायित्व पर उनका पूरा विश्वास था। यह हो ही कैसे सकता है कि लोग हमारी बात नहीं सुनेंगे ? क्या लोगों को जीना ही नहीं है ? वे सो रहे होंगे तो उन्हें जगावेंगे, उठने से इनकार करेंगे तो उनकी चोटी खींचेंगे, नींद गहरी होगी तो आलपीन चुभाकर उठावेंगे। पर जबतक लोग हमारी बात नहीं सुन लेंगे तबतक न हम विश्रान्ति लेंगे न दूसरे को लेने देंगे। यह उनकी मान्यता थी और तदनुसार वे अपना जीवन व्यतीत करते आये हैं। उनकी तुलना में शिक्षा-क्षेत्र में हमने क्या किया है ?—स्वतन्त्ररूप से क्या किया है ? प्रार्थना-समाज और आर्य-समाज ने शिक्षा को कुछ संचालन दिया। समाज-सुधारक शिक्षा को अपना सहायक समझकर उसकी सहायता करते हैं और राजनैतिक पुरुष अपने आन्दोलन को गम्भीर स्वरूप देने तथा नौजवानों में से नवीन भरती करने के लिए उसे राष्ट्रीय स्वरूप देकर अपनी सेना में शामिल कर लेते हैं। पर स्वयं शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के लिए स्वतन्त्ररूप से कितना प्रयत्न किया है ? यह तो हम कदापि नहीं कह सकते कि हमारे यहाँ समर्थ शिक्षा-शास्त्री हुए ही नहीं। बात यह है कि समस्त जीवन का विचार करने वाले लोगों ने शिक्षा को अपना प्रधान क्षेत्र ही नहीं समझा अथवा

शिक्षा-शास्त्रियों ने जीवन की दृष्टि से उस पर विचार ही नहीं किया। निःसन्देह शिक्षा-क्षेत्र में नवीन उत्साह, नवीन बलवा अथवा पूरी-पूरी नवीन क्रान्ति अभी तक हुई ही नहीं। अभी तक जनता के सामने शिक्षा का सन्देश, शिक्षा की स्मृति और शिक्षा का काव्य पेश ही नहीं हुआ है। हाँ, सरकारी शिक्षा-पद्धति तथा बेचारे देहाती पाठकों की शिक्षा-शैली पर टीका करनेवाले जरूर काफी पैदा हो गये। पर उनकी टीका इतनी ऊपरी और अज्ञान-मूलक होती है, कि सिवा मामूली जन-मनरंजन के उसका कुछ उपयोग ही नहीं है। फिर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि लोग शिक्षा की शक्ति और प्रभाव के विषय में अधिकांशतः अनजान हों। सब से भारी दुःख की बात तो यह है कि शिक्षा का जहाँ-तहाँ प्रचार करनेवाले शिक्षक तक यह नहीं जानते।

हमें जनता को यह दिखा देना चाहिए कि जहाँ धार्मिक सुधार निष्फल सिद्ध होते हैं, स्मृतियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, औद्योगिक आंदोलन थोथे साबित होते हैं, सामाजिक-सुधार निष्प्राण प्रतीत होते हैं, और राजनैतिक आन्दोलन थक जाता है तहाँ अन्त में शिक्षा ही सब का कर्णधार है।

अप बल तप बल और बाहुबल, चौथा है बल दाम।
'सूर' किशोर-कृपा तें, सब बल, हारे को हरिनाम॥

इस गीत के अनुसार हमें लोगों के दिल पर इस बात को अंकित कर देना चाहिए कि जहाँ आपके सभी उपाय हार जाते हैं तहाँ सच्ची शिक्षा—राष्ट्रीय शिक्षा ही समाज के लिए संजीवनी रूप सिद्ध होती है।

जब समाज-सुधारक जीवन की गम्भीरता को ही न समझें,

समाज की मनोरचना को ही नहीं जानें और जन-समाज अपनी जड़ता के कारण किसी बात पर विचार करने से भी इन्कार करे तब समाज में नवचेतन कैसे उत्पन्न हो सकता है ? राजनैतिक आन्दोलन में जबतक स्वार्थ-त्याग नहीं होगा, एकता के लिए जिस प्रेम-भाव की आवश्यकता है वह नहीं विकसित होगा, और जन-साधारण कष्ट झेलने के लिए तैयार न होगा तबतक स्वराज्य असंभव है। धार्मिक सुधार भी तबतक नवीन झगड़े का साधन ही बना रहता है, जबतक प्रजा आत्मा पर श्रद्धा न रखती हो और न हो उसमें पारमार्थिक जीवन की अभिलाषा। इस तरह जब चारों ओर से कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं और यह सवाल खड़ा होता है कि अब क्या किया जाय, तब यही एकमात्र उत्तर मिलता है कि प्रजा को प्राणदायिनी शिक्षा दीजिए। शिक्षा से ही राष्ट्र सञ्जीवित होगा, शिक्षा से ही जनता में नवीन उत्साह आवेगा, शिक्षा से ही जनता जरा की केंचुली उतार कर फेंकेगी और उसमें जवानी का नया जोश आवेगा।

पर यह शिक्षा देनेवालों को सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक और राष्ट्रीय हलचलों का रहस्य, इतिहास, उनकी खामियाँ आदि सब का ज्ञान होना ज़रूरी है। यह होने पर ही वे पर्वत-शिखर पर खड़े रहकर समाज को जागृत करने के लिए रण-भेरी बजा सकते हैं; तभी वे लोगों के हिताहित के सवाल खड़े करके उनको सचेत कर सकते हैं और उनका ध्यान तथा सहानुभूति अपनी तरफ़ आकर्षित कर सकते हैं। 'आराम-ही-आराम हमेशा के लिए हराम है' मैज़िनी का यह वाक्य शिक्षाकार के मुँह से ही समाज को श्रवण करना चाहिए। शिक्षा-शास्त्री ही समाज को सावधान

कर सकता है। वही आत्मोन्नति का सुमुहूर्त्त जनता को बता सकता है। आज शिक्षा-शास्त्रियों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे उस काम को जान लें, कि जो उनके लिए ईश्वर ने निर्माण कर रक्खा है। उसे जान लेने पर अपने को उसके लायक़ बनाना उनका द्वितीय कर्त्तव्य है। वह योग्यता प्राप्त करने पर उस महाकार्य्य के लिए आत्मार्पण कर देना उनका तीसरा कर्त्तव्य है।

आवश्यक दृष्टि

राष्ट्रीय शिक्षा के मानी हैं भारत के साढ़े सात लाख देहात् में बसने वाले ग़रीब माता-पिताओं के बालकों की शिक्षा का प्रश्न। हम जानते हैं कि इस देश की जन-संख्या के फ़ी सैकड़ा अस्सी आदमियों को पेट-भर भोजन भी नहीं मिलता। जाड़े से रक्षा करने के लिए उनके पास काफ़ी कपड़े न होने के कारण वे क़ीमती खाद, घास और गोबर जला डालते हैं। बीमारी में इलाज करने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते और न काम पर जाना बंद करके एक-आध दिन आराम लेने योग्य उनकी आर्थिक स्थिति ही होती है। फलतः बीमारी की हालत में ही बेचारे काम करते हैं। ऐसे लोगों के बच्चों को यदि शिक्षा देना है, तो ख़र्च और समय का विचार ज़रूर करना होगा। तरह-तरह की किताबें पढ़ाकर हम उनको शिक्षा नहीं दे सकेंगे। महत्वपूर्ण और उपयोगी ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली थोड़ी-से-थोड़ी किताबों से हमें काम चलाना होगा। विशेष जानकारी जो आवश्यक हो, शिक्षक स्वयं पाठ्य-पुस्तक पढ़ाते समय बच्चों को करा दिया करें।

ख़र्च का प्रश्न न भी हो तो भी ज्ञान-प्राप्ति के एक प्रधान साधन की हैसियत से ग्रंथ को नहीं रक्खा जा सकता। तमाम इन्द्रियों को शिक्षा देकर उन्हें जागृत रखकर उन्हीं के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अकेले ग्रंथ-वाचन पर ही विशेष निर्भर रहने से बुद्धि का विकास नहीं होता, और विवेचन-शक्ति पंगु रह जाती है।

ज्यों-ज्यों हम किताबों का ख़र्च बढ़ाते हैं त्यों-त्यों जन साधारण की शिक्षा अधिकाधिक संकुचित होती जाती है। शिक्षाशास्त्री को इस बात का हमेशा ख़याल रखना चाहिए। शिक्षा का ध्येय और दिशा यदि हम निश्चित कर लें तो कम-से-कम किताबों के द्वारा बढ़िया-से-बढ़िया शिक्षा भी दी जा सकती है। प्रतिवर्ष यदि किताबों का बदलना बन्द कर दिया जाय तो प्राथमिक शिक्षक के लिए शिक्षण-कला का विकास करना एक आसान बात हो जाय। हाँ, उनके अनुभव के कारण किताबों में कोई अनायास थोड़ा-बहुत फ़र्क़ करना पड़े तो बात जुदी है। किताबें यदि छोटी हों, तो परिश्रमी विद्यार्थी अपने हाथों से सुन्दर अक्षरों में उसकी नक़ल भी कर सकें। ज्यों ज्यों पढ़ते जावें त्यों-त्यों किताब को लिखते जाने से कितना लाभ होता है, इस बात को अनुभवी शिक्षक भलीभांति जानते हैं।

आजकल कितनी ही किताबों में इतनी छोटी-छोटी बातें दी जाती हैं, और वे इतनी स्पष्ट रीति से समझाई गई हैं कि विद्यार्थियों को शिक्षक की आवश्यकता ही न रहे। पर इससे शिक्षा एक तो ख़र्चीली हो जाती है और दूसरे यान्त्रिक हो जाती है। यह बड़ी भारी हानि है।

गुरु के द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसमें विद्यार्थी की योग्यता के अनुसार पद्धति में फ़र्क़ कर दिया जा सकता है। सच्ची शिक्षा तो यही है।

कितने ही अच्छे-अच्छे शिक्षा-शास्त्री इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यदि राष्ट्रीय एकता दृढ़ करना है, तो यह शिक्षा-द्वारा देश के भावी नागरिकों पर निश्चित और एक तरह के संस्कारों के

डालते रहने से ही हो सकता है। यदि शिक्षा में अव्यवस्था और नैतिक अराजकता हो, तो समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। मनुष्य को प्रतिवर्ष कोई-न-कोई बात सूझती रहती है। पर केवल इसीलिए प्रति वर्ष पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन करना श्रेयस्कर नहीं है। मनुष्य का दिल प्रति दिन कुछ-न-कुछ नयी बात सोचता और ढूंढता रहता है। नित्य नवीनता से मनुष्य को प्रेम जरूर होता है पर यह मान लेना भूल है कि उसमें प्रगति ही होती है। नित्य नये परिवर्तन करते रहने से शिक्षा का उद्देश भुला दिया जाता है और संस्कारों की गम्भीरता कम हो जाती है।

बेशक, शिक्षकों के लिए विविध सामग्री की आवश्यकता जरूर है। शिक्षा किस तरह दी जाय, विद्यार्थी के चित्त को किस तरह पहचाना जाय, उसको ज्ञान किस तरह दिया जाय, इन बातों पर शिक्षकों में दिन-रात चर्चा होनी चाहिए। शिक्षकों को हमेशा अपने अनुभव और विचारों का विनिमय करते रहना चाहिए। इसलिए वे सम्मेलन कर सकते हैं, और कोई मासिक पत्र भी शुरू कर सकते हैं जो प्रत्येक पाठक को मुफ्त मिलता रहे।

संक्षेप में यदि हम राष्ट्रीय साहित्य और खास कर राष्ट्रीय शिक्षा के साहित्य को वीर्यवान् और तेजस्वी बनाना चाहते हैं, तो साहित्य में ब्रह्मचर्य को शामिल करना जरूरी है। उच्छृंखल विचारों और कल्पनाओं के फव्वारे छोड़कर साहित्य-विलास करने से पठन-पाठन बढ़ता है, संस्कार नहीं। और संस्कार भी यदि कहीं किसी अल्प-स्वल्प मात्रा में बढ़ जायँ तो पुरुषार्थ तो कभी नहीं बढ़ सकता।

जीवन-कला

SAH
MUNICIPAL PUBLIC LIBRARY
NAINI TAL

जीवन-कला ×

सौभाग्यवश मुझे कला का भान बड़ी देर से हुआ। बचपन में या बड़े होने पर भी मैंने पढ़ाई को अपने जीवन-विकास के मार्ग में आने ही नहीं दिया। अर्थात् ठेठ बाल्यावस्था से ही मैं प्रकृति की गोद में पला हूँ। प्रवास तो मेरी बाल्यावस्था का आनन्द का विषय है। सो भी मैंने पार्सल की तरह रेल के डिब्बे में बैठकर प्रवास नहीं किया, बल्कि बैलगाड़ी पर दरकूच-दरमंजिल प्रवास करता जाता। लड़के या बड़ों के साथ मैं विशेष पड़ता भी नहीं था। पशु-पक्षी और फूल-पत्तियों से ही मेरी मित्रता थी। पर्वत-निर्झरों के पास बैठकर उनसे अर्थ-विहीन बातें करना भी मैं सीख गया था। थोड़े ही दिनों में मैंने देखा कि पाठशाला के कई विद्यार्थियों ने अरुणोदय की शोभा को भी नहीं देखा था। रात को देर से जब तश्तरी का सा चन्द्र अस्त होता है, तब उसके उस मनोरम दृश्य का तो उन्हें खयाल भी कैसे हो सकता है? एक दिन हम सावंतवाड़ी के रास्ते पर सफ़र कर रहे थे। चन्द्र अस्ताचल को जा रहा था। रात के क़रीब दो का अंदाज था। गाड़ी में लेटे-लेटे मैं चन्द्र को देख रहा था। चन्द्र ठेठ क्षितिज पर आया और उस पर लाल स्याही फिर गई। समस्त प्रकृति शोक-मग्ना जान पड़ने लगी। प्रकृति में सौंदर्य के

× सूरत के 'युवक सप्ताह' के उपलक्ष्य में भेजा हुआ निबन्ध।

साथ-साथ भावनायें भी होती हैं, यह प्रभाव दस साल के मेरे बाल-हृदय पर उस दिन पहले-पहल पड़ा। तथापि कला का भान नहीं जागा था। घर में और मन्दिरों में धार्मिक संस्कार विधियों, त्यौहारों की आयोजनायें और उत्सव आदि का प्रभाव बाल्या-वस्था से ही पड़ रहा था। मैं तीन-तीन घंटे बैठकर घर में देव-पूजा किया करता। इसलिए मूर्तियों की नित्य नवीन रचना, रंग-बिरंगे फूलों और तुलसी दल तथा दूर्वा, बिल्व दल आदि की शोभा देखने की आदत और आनन्द मुझे एक साथ प्राप्त होते। प्रत्येक प्रान्त के भिन्न-भिन्न तरह के बर्तन, पोशाक, रहन-सहन और गृह-रचना देख-देखकर उनके बाह्याभ्यंतर भेद और साम्य की ओर मेरा ध्यान अपने-आप आकर्षित होता। देशी राजाओं की राजधानियाँ भी बार-बार देखने का अवसर प्राप्त होने के कारण दरबारी ठाट-बाट, गायन-नाच, राजप्रासाद, वहाँ का शिष्टाचार यह सब देखने का मौक़ा मिलता। तरंगी मन इन बातों पर अनेक तरह के विचार कर कल्पनायें बाँधता।

तथापि अभी तक मुझे कला का भान नहीं हुआ था। कला-रसिकता अबतक मुग्ध थी। इसलिए उसके शुभ संस्कार मिलते जाते थे पर उसके उन्माद का स्पर्श तक अभी मुझे नहीं हो पाया था। इसलिए मेरा ख़याल है कि बच्चों को भक्तिपूत कला का वायु-मंडल ज़रूर मिलना चाहिए। पर भान-पूर्वक कला का सेवन तो उनके लिए कदापि अच्छा नहीं है।

शिक्षा समाप्त कर लेने पर जब मैं जीवन के अंग-प्रत्यंगों पर मनन करने लगा तभी मुझे कला का भान हुआ, उसका महत्व समझा। भोग-विलास में मग्न रहनेवालों का जीवन कितना हीन,

निंद्य और उच्छृङ्खल होता है इसका ज्ञान मुझे पहले ही से था। इसलिए कला के सच्चे स्वरूप को जानने में मुझे विलम्ब न लगा। इतनी पूर्व-तैयारी के बाद कला पर कई प्रामाणिक ग्रन्थों के पढ़ते समय मुझे कोई कठिनाई या शंका नहीं हुई।

कला का विवेचन शुरू करने के पहले उपर्युक्त अनुभव का सार कह दूँ। जीवन की पूर्व-दशा में पहले-पहल सद्गुणों का विकास कर उन्हें दृढ़ करना चाहिए। और सदाचार की महत्ता तथा दुराचार की हीनता हृदय पर शिला-लेख को भांति अङ्कित होजानी चाहिए। इतना हो जाने पर ही कहा जा सकता है कि कला की दीक्षा लेने की पूर्व-तैयारी हो गई। जिस प्रकार यौवन चारों पुरुषार्थों का उद्गम काल है उसी प्रकार अनन्त प्रमादों का उद्गम स्थान भी वही है। यौवन के पास सब कुछ है, केवल जीवन-नौका का प्रेरक कर्ण नहीं है। यदि धर्म-संस्कार और सदाचार से यह कर्ण प्राप्त न हो सके तो उसे वह कला से कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। एक बार मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हुआ कि उसे सब-कुछ मिल गया। धर्म-वीर्य के साथ मनुष्य चाहे जिस क्षेत्र में या विषय में गहराई के साथ प्रवेश कर सकता है। जीवन समस्त में प्रत्येक वस्तु को निर्मल दृष्टि से देख वह उसके स्थान, प्रयोजन और विनियोग को निश्चित कर सकता है।

धर्म अर्थात् श्रद्धायुक्त सदाचार के आधार पर जिस कला की रचना होती है वह रस-गंभीर, प्राण-पोषक और अनन्तवीर्य होती है। कला पर जिस सदाचार की रचना की जाती है वह प्रायः ऊपरी शिष्टाचार ही होता है। जिस तरह सड़े हुए फल पर रङ्गीन कागज लपेटकर उसे सुन्दर दिखाने का प्रयत्न किया जाता

है उसी प्रकार अ-संस्कारी अ-संयत जीवन पर नागरिकता का आडम्बर रचकर जीवन सदाचारी बताया जा सकता है। कला के द्वारा विकसित सदाचार को तो हलकी धातु पर चढ़ाई हुई कलई ही समझिए। जब से धर्म अप्रतिष्ठ हुआ है तब से सुधार एक तरह का 'वेनीर' बन गया है। वेनीर के मानी हैं हलकी जाति की लकड़ी पर चढ़ाया हुआ शीशम अथवा महागनी-जैसी लकड़ी का आवरण। यदि हम मांसाहार को सदाचार के विपरीत मानते हैं, तो इसका कारण हमें धर्म से प्राप्त होना चाहिए, कला से नहीं। मांसाहार में क्रूरता है, पाप है, हृदय-धर्म का द्रोह है। इस भावना से जब मांसाहार का त्याग किया जाता है तो वह स्थिर होता है, बलप्रद होता है। कितने ही कवि और कलाकार कहते हैं कि हम मांसाहार इसलिए नहीं करते कि मांसाहार हमारी सौंदर्य की कल्पना को आघात पहुँचाता है। इसलिए हम निरामिष भोजी हैं। ऐसे लोगों के निरामिष भोजन में व्रत की दृढ़ता नहीं होती। कभी-कभी वे मांस का सेवन कर भी लें। कला के हिमायती कला का केवल सेवन कर सकते है पूजा नहीं। पूजन की वृत्ति का उदय धर्म से ही होता है। बिना स्वार्थ और अहंकार को मारे पूजा हो ही नहीं सकती।

जीवन—विषयक कल्पना जबतक स्थिर नहीं हो जाती तब तक हमें इस बात का खयाल भी नहीं हो सकता कि कला क्या वस्तु है। पशु के समान ही मनुष्य में भी भोगवृत्ति है, स्वामित्व-बुद्धि है, आलस्य है, उतार में फिसलने का आनन्द भी है। पर मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। इसलिए वह इन वृत्तियों को व्यवस्थित रूप दे देता है। शब्द-जाल फैलाकर वह पशु-जीवन को भी

रसमय या यथार्थ बता सकता है। यह अनुभव तो बाद में मिलता है कि भोगमय जीवन न तो रसमय हो सकता है, और न यथार्थ। एक के अनुभव से मिली हुई मुफ्त की होशियारी लेने से जबतक दूसरे इनकार करते रहेंगे तबतक भोग की फ़िलासफी और उस पर रचा हुआ सौंदर्यशास्त्र इसी तरह चलते रहेंगे।

सब से पहले यह तय करना चाहिए कि सफल जीवन किसे कहते हैं। किस प्रकार जीवन व्यतीत करने से हम निष्प्राण नहीं होंगे, हीन न होंगे, विनाश-मार्ग के पथिक न बनेंगे। इसके बाद इस मंगल-जीवन के अनुकूल कला का विकास अपने अन्दर करना चाहिए। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। यदि इस आकर्षण को ही कोई कलावृत्ति मान ले, इसी को यदि कोई रसिकता का नाम दे दे तब तो कहना होगा उसने आत्मघात ही कर लिया। और कला का भी अपमान किया। कला का आनन्द विषयातीत होना चाहिए।

कितने ही वैरागी इन्द्रियों में परिपूर्ण अविश्वास रखते हैं। वे कहते हैं—"इन्द्रियों को स्वाधीनता यदि दे दी जाय तो वे तो अपने विषयों की ओर अवश्य दौड़ेंगी, और यह निःसन्देह सिद्ध है कि विषयों का सेवन ही आध्यात्मिक मृत्यु है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति शुभ तो हरगिज नहीं और न वह एकदम बन्द ही हो सकती है। यदि एकदम उसे बन्द करने जाते हैं तो बलवान् इन्द्रिय-ग्राम कोई-न-कोई विकृति खड़ी कर देता है। इसीलिए युक्ति प्रयुक्ति द्वारा, मधुरता पर साथ ही दृढ़ता के साथ इन्द्रियों को विषय-पराङ्मुख करने में ही हमारा सच्चा पुरुषार्थ है।"

कला के उपासकों की दृष्टि इससे कुछ भिन्न है। वे कहते हैं

कि "इन्द्रियों को विषय-सेवन करने के लिए स्वाधीनता दे दी जाय तो वे बात-की-बात में जीवन की तमाम सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी। विषय-सेवन में सुन्दरता नहीं। सुन्दरता, कला, काव्य ये सब इन्द्रियातीत वस्तुयें हैं। इनका आनन्द सच पूछा जाय तो इन्द्रिय-निरपेक्ष है इसलिए शुद्ध सात्विक है। इस आनंद के सेवन में इन्द्रियों की सहायता की जा सकती है। यही केवल हमारा कथन है। यह कोई बात नहीं कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्तियाँ अधःपात की ओर ले जाती है। हृदय की एक खास तरह से शुद्धि कर लेने पर इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा सौंदर्य का आकलन किया जा सकता है। एक ही युवती को पति और पिता जिस तरह भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं उसी प्रकार विषयी पुरुष और कलारसिक भी एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देख सकते हैं। हम इस बात को क़बूल करते हैं कि पिता की दृष्टि की निर्मलता दुर्लभ है। इस बात को भी हम स्वीकार करते हैं कि आजकल अपनेको कलारसिक कहलानेवाले कितने ही लोग विषयी या विलासी ही होते हैं। हम जानते हैं कि हमारी जाति में इन बाहरी लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अतः ज्ञान-शुद्धि का प्रयत्न हमें करना चाहिए—सबको करना चाहिए। पर इस जाति का अन्त तो कैसे किया जा सकता है?"

प्रायः सभी कलापूजक इस बात को जानते हैं कि कलापूजन में सभी इन्द्रियाँ एक-सी योग्यता नहीं रखतीं। स्पर्शेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय इतनी उन्मादकारी और असंयत होती हैं कि कला-पूजन में हम उनकी सहायता ले ही नहीं सकते। गन्ध भी स्पर्श-सुख ही है। इसलिए गन्धग्राही इन्द्रियों को भी कला-पूजन

इन्द्रियों में स्थान मिलना शंकास्पद है। अब शेष रही दो ज्ञाने-न्द्रियाँ, श्रवण और नयन। इन दोनों की विलासिता को संयत कर इन्हें कलाग्रह की दीक्षा दी जा सकती है।

पर कला का सच्चा आनन्द शब्द या रूप के आस्वाद में नहीं है। कला निर्दोष सृष्टि-निर्माण करने ही में आनन्द मानती है। अर्थात् हाथ और कण्ठ की सहायता से ही कला की श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ उपासना हो सकती है। कण्ठ से स्वर्गीय संगीत-ध्वनि निकालने का आनन्द कला का प्रधान आनन्द है। पर जबतक उसकी जाँच नहीं कर लेते, श्रवण-द्वारा अनुरंजक शक्ति का तथा भावनाओं को उद्दीपित करने के सामर्थ्य की जाँच नहीं हो जाती तबतक संगीत से आनन्द मिल ही नहीं सकता। संगीत का आनन्द अन्ततोगत्वा इन्द्रियों से परे तो है ही पर वह श्रवण और कण्ठ की सहायता से ही जागृत हो सकता है।

सच देखा जाय तो प्रत्येक इन्द्रिय-द्वारा कला का आनन्द प्राप्त हो सकता है। पर उसे पहचानने की मनुष्य को शक्ति हो तब। कितनी ही इन्द्रियों का संयम करने से ही एक असाधारण और निर्विषय आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यह मनुष्य-जाति का दुर्दैव है कि उसने इस आनन्द का बहुत कम अनुभव किया है। जिस आदमी को खुजली हो जाती है वह खुजलाने को ही आनंद मानता है, पर नीरोग मनुष्य तो शुद्ध आरोग्य-आनंद को ही पसंद करता है। जाड़े के दिनों में, जब हम बिलकुल स्वस्थ होते हैं, बिलकुल सुबह उठकर ठण्डे पानी से नहाते हैं तब सारे शरीर में से—रोम-रोम से आनंद फूटता है। क्या उसे छोड़कर हम खुजलाने के सुख को पसंद करेंगे? ब्रह्मचर्य का आनंद आरोग्य-

आनन्द की अपेक्षा हज़ार गुना अद्भुत और उन्नत होता है। उसके अनुभवी बहुत कम होते हैं। पर इसे कोई ब्रह्मचर्य का दोष नहीं कह सकता।

पालकी और डोली में बैठकर घूमने में भी आनन्द है। सामने से जोरों की हवा चल रही हो उस समय टेकड़ी पर चढ़ने में भी आनन्द है। आलस्य में और उद्योग में भी आनन्द है। पर इन दोनों में प्राणप्रद कौनसा है और प्राणनाशक कौनसा है? इसका तो परिचय प्राप्त कर ही मनुष्य को अपनी पसन्दगी करनी चाहिए। इस तरह विचार करनेवाला आदमी कला और परिश्रम में विरोध की कल्पना ही नहीं कर सकता। स्वयं जीवन-रस को शुष्क करनेवाली इस बीसवीं सदी की मजदूरी को सच्चा परिश्रम नहीं कहा जा सकता। कला के नाम विलासिता का प्रचार करनेवाले धनिकों ने ही इस प्राण-नाशक मजदूरी को उत्पन्न किया है, यह बात हमें क्षण-भर के लिए भी नहीं भुलानी चाहिए। अमेरिका की स्त्रियों की टोपियों की शोभा बढ़ाने के लिए संसार भर के सुन्दर-सुन्दर पक्षियों को मारने का उद्योग शुरू हुआ। भला इससे भी कहीं कला को पोषण मिल सकता है? लॉर्ड कर्ज़न ने भारत का चाहे कितना ही नुक़सान किया हो, पर उसने भारत के मोरों और अन्य पक्षियों को विदेशों में भेजने के व्यापार को बन्द करके जरूर एक सुन्दर काम कर डाला। प्रत्येक प्रामाणिक मजदूरी में—जीवन-पोषक मजदूरी में—कला का शुद्ध आनन्द है। जिस वस्तु का निर्माण करते समय पद-पद और क्षण—क्षण पर सावधानी की आवश्यकता होती है उसमें जरूर ही कला निवास करती है। चरखा चलाते समय क्षण-क्षण पर मुझे

सूत की सुन्दरता की ओर ध्यान देना पड़ता है। यही नहीं, बल्कि सूत की सुन्दरता का मेरा आदर्श क्षण-क्षण अधिकाधिक ऊँचा होता जाता है। लापरवाही से काता हुआ सूत हमारी लापरवाही का स्मारक बन जाता है। जितनी ही बार उसपर हमारी नजर पड़ती है उतनी ही बार हमारे चित्त में उससे ग्लानि ही उत्पन्न होती है। अतः जहाँ-जहाँ अवधान की आवश्यकता है तहाँ-तहाँ कला को स्थान है। इस पर से हम यह सर्वसामान्य सिद्धान्त क़ायम कर सकते हैं कि जो-जो क्रियायें स्वायत्त हैं, वे ही कला को भी स्थान देती हैं।

कला का आनंद शान्त और स्थायी होता है। जिसमें विलास है, उससे क्लान्ति, ग्लानि और विषाद जरूर पैदा होते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि लालित्य और लालसा बिलकुल जुदी-जुदी चीजें हैं।

× × ×

एक बंगाली भाई ने मुझ से एक भारी शिकायत की। उन्होंने कहा—"कला के नाम आप लोगों ने देश के पुरुषार्थ को बड़ी चोट पहुँचाई। युवावस्था में जब कि विद्यार्थियों का जीवन असीम अमर्याद महत्वाकांक्षा से स्फुरित होना चाहिए, जब उनको रात-दिन यही स्वप्न रखने चाहिए कि सारे संसार का दुःख मैं अकेला दूर करूँगा, कीर्ति की लालसा यही उनका एकमात्र दोष जीवन में दृष्टि-गोचर होना चाहिए, और कष्ट-सहन में ही जिन्हें आनन्द मानना चाहिए, ऐसे महत्वपूर्ण काल में आजकल के नौजवान कला के नाम निकम्मा जीवन व्यतीत करने लगे हैं। दूसरे का दुःख देखकर रो पड़ने के बदले वे अपने ही दुःखड़ों का रोना

जहाँ-तहाँ रोते फिरते हैं, और स्त्रियों की खुशामद करने में ही पुरुषार्थ मानते हैं। संसार से नष्ट करने योग्य केवल एक ही दुःख इन नर-वीरों को दिखाई देता है—और वह है वैधव्य।" इन भाई की पूरी टीका मैं यहाँ लिखना नहीं चाहता। अतिशयोक्ति-पूर्ण टीका अपने उद्देश्य को ही हानि पहुँचाती है। पर यह तो प्रत्येक विचारवान मनुष्य को स्वीकार करना होगा कि जिस तरह सदाचार और पुरुषार्थ के बीच कोई विरोध नहीं होना चाहिए, उसी प्रकार कला और इन दोनों के बीच भी विरोध न होना चाहिए। यदि कला कोई सच्ची वस्तु हो तो वह जीवन का सङ्गीत रूप होनी चाहिए। जीवन के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जब संगति उत्पन्न हो जाय तभी जीवन में सङ्गीत बहाया जा सकता है।

× × ×

इसीलिए सदाचार सर्वश्रेष्ठ कला है। सदाचार में ही कला-युक्त जीवन है। रूप की उपासना की अपेक्षा प्रेम की उपासना ही श्रेष्ठ है। लैला और मजनू की कथा को रूढ़ करनेवाले सूफ़ी कलाकारों ने मजनूँ को सुदामा का दूसरा अवतार बनाकर और लैला को कृष्ण रात्रि का कुसुम कल्पित कर यही बात ज़ाहिर की है कि उच्च कला रूप की भी उपासना नहीं करती। घर के दीवानखाने में हरिण का सिर या सींगों का प्रदर्शन करनेवाला सौंदर्य का उपासक भले ही समझा जाय पर उसके जीवन के कलाशून्य होने में कहीं सन्देह हो सकता है ? फिर आप शत्रु की खोपड़ी इकट्ठी करनेवाले तिब्बत के निवासियों को जंगली क्यों कहते हैं ? शिकारी राष्ट्रों से कला का पाठ यदि हम पढ़ने बैठें तो फिर कला में विकला का संकर हो इसमें कौन आश्चर्य की

बात है । हरिणों के सिरों से अपने दीवानखाने को सजानेवाले आधुनिक रसिक मनुष्य और विजित लोगों के सिरों को मिट्टी में रखकर एक विजय-स्तंभ की रचना करनेवाले तैमूरलंग में जाति का कोई भेद नहीं है । नन्हें-नन्हें बालकों के हाथ तोड़कर उन्हें फूल-पात्रों में रख कर दीवानखाने को सजानेवाले मनुष्य को यदि आप नर-पशु राक्षस कहें तो प्रेम-धर्म को भुला कर कला का विकास करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को भी वही नाम अर्पित करना चाहिए ।

कला धर्म का स्थान नहीं ले सकती । पर वह धर्म की विरोधिनी कदापि नहीं हो सकती । कला सत्य तक नहीं पहुँच सकती, पर सत्य का द्वेष भी उसे नहीं करना चाहिए । कला में संपूर्ण पुरुषार्थ समाविष्ट न हो पर पुरुषार्थ की विघातिका उसे किसी प्रकार न होना चाहिए । समाजोपयोगी प्रत्येक मजदूरी में कला का दर्शन करने की दिव्य दृष्टि यदि हमें प्राप्त न हो सके तो कम-से-कम कला को मजदूरी का तिरस्कार करने का पाप तो हरगिज न करना चाहिए । मजदूरों का जीवन उसे विषम कदापि नहीं कर देना चाहिए । मजदूरी का द्रोह करने से जब जीवन ही नहीं टिक सकता तब कला कहाँ बचने लगी ?

× × ×

कोई कहेगा, कला को इतने बन्धनों में जकड़ने पर उसके लिए क्षेत्र ही कहाँ रह जाता है ? उत्तर यह है कि ये कला के बन्धन नहीं, संरक्षक भाई हैं । उनके सहवास में ही कला का विकास हो सकता है । उनकी सहायता उसे न मिलने पावे तो कला की नित्य वैरिणी बात की बात में कला का कण्ठ धर दबावे ।

भाइयों के सहवास में ही बहन जीवन-व्यापी क्षेत्र में विहार कर सकेगी। भाई अपनी बहन के क्षेत्र को संकुचित नहीं करते बल्कि उसे संपूर्ण क्षेत्र का अधिकार सौंप देते हैं।

जीवन का संगीत

शास्त्रवेत्ता चाहे कितने ही सर्वज्ञ हों, परन्तु उन्हें यह अभिलाषा तो जरूर ही बनी रहती है कि सामान्य मनुष्य उनके शास्त्र के विषय में क्या अभिप्राय रखता है। इसी अभिलाषा या उत्सुकता को कुछ अंशों में पूर्ण करने के लिए आज मैं इस संगीत-चर्चा में प्रवृत्त हो रहा हूँ। मैं शिक्षा-शास्त्री होने का दावा करता हूँ। इस बात को तो प्रायः सभी जानते हैं कि भगवान् मनु ने ब्रह्मचारियों के लिए संगीत को चाहे कितना ही निषिद्ध बताया हो, पर आजकल तो वह शिक्षा का एक प्रधान अंग माना जाता है। अर्थात् शिक्षा की दृष्टि से संगीत का विवेचन करना तो मेरा क्षेत्र हुई है। परन्तु आजकल के संस्कृतियुक्त अध्ययन के युग में हमारे संगीत में आर्य-संस्कृति किस हद तक व्यक्त हुई है, साथ ही भविष्य में हमारा संगीत किस रूप को धारण करेगा, जीवन में उसका क्या स्थान होगा, आदि बातों पर भी हमें अवश्य ही विचार करना होगा।

आज समाज में हम क्या देखते हैं? सामान्यतः संगीत-कला के प्रति उदासीनता। जहाँ उदासीनता नहीं, वहाँ कितने ही लोग संगीत का आत्यंतिक विरोध करते हैं। दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे हैं, जिनके जीवन में सिवा संगीत के और कुछ आकर्षक वस्तु ही नहीं दिखाई देती। संगीत के विरोधी कहते हैं

"संगीत से मनुष्य शौक़ीन, विलासी, और फ़िजूलख़र्च हो जाता है। संगीत के पीछे जो आदमी पड़ता है, वह संसार के आवश्यक व्यवहारों की तरफ़ बिलकुल लापरवाह हो जाता है। विद्यार्थी तो एक बार संगीत की धारा में आये कि बहे। फिर व्याकरण, गणित, तर्क-जैसे प्रखर विषयों में तो उनकी बुद्धि काम दे ही नहीं सकती, सामान्य विषयों पर से भी उनका चित्त उचट जाता है। जिसे संगीत का शौक लगा, उसके यहाँ सुबह-शाम दोस्तों की बैठक जमी समझिए। उनके लिए गाने-बजाने की महफ़िल के सामने और किसी कार्य का महत्व ही नहीं रह जाता। अंगरेज़ों ने लखनऊ सर कर लिया, पर इतने पर भी लखनऊ के नवाब साहब तो यही कहते रह गये कि 'एक और ठुमरी हो जाय'। औरंगज़ेब ने संगीत का बहिष्कार व्यर्थ नहीं किया था।"

प्रतिपक्षी जब दलील करने लगता है तब वह भी इसी प्रकार आग्रही होता है। नाद तो ब्रह्म है, उसकी उपासना से चतुर्विध पुरुषार्थ तो क्या, मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है। एक नाद-ब्रह्म को संतुष्ट करने से सभी देवता अपने-आप संतुष्ट हो जाते हैं। गानानंद और ब्रह्मानंद के बीच विशेष भेद नहीं हो सकता। सामवेद के गायन से देवता भी संतुष्ट हो जाते हैं, फिर मनुष्यों की कौन कथा? व्यवहार में भी यही अनुभव है कि 'सद्यः फलती गांधारी'।

हमें सब से पहले यह जान लेना चाहिए कि संगीत के मानी जीवन-सर्वस्व नहीं। साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि संगीत-शून्य जीवन अनेक प्रकार से नीरस और अधूरा होता है। संगीत एक अत्यन्त तेज वस्तु है। वह अधिक-से-अधिक उपयोगी है, और इसीलिए उसका दुरुपयोग भी हो सकता

है। संगीत का न तो किसी खास प्रकार के लोगों ने ठेका ही ले रक्खा है और न वह अस्पृश्य ही है। संगीत मनुष्य-जीवन का एक अत्यंत आवश्यक और विश्वजनीन अंग है। सुबह-शाम प्रकृति को शब्दमयी बना देने वाले पक्षियों को संगीत की जितनी आवश्यकता है उतनी ही मनुष्य-जाति को भी है। थके हुए आदमी को अन्न अथवा निद्रा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही संगीत की भी। सूर्योदय से लगाकर दिनान्त तक काम करने वाले मज़दूरों को पूछिए कि उनके लिए परिश्रम के बीच विश्राम की चीज़ क्या है? प्रातःकाल उठकर चक्की चलानेवाली गृहिणियाँ, गाँव के कपड़े साफ़ करनेवाला धोबी और धोबन, संसार की लज्जा को ढाँकनेवाला जुलाहा, घर को बुहारने वाली मजूरिन, हल चलाने वाले संसार के अन्नदाता किसान, माल को यहाँ-से-वहाँ ले जाने वाले बनजारे, गायें चरानेवाले ग्वाले, दरिया पर नाव चलाने वाले मल्लाह, फ़कीर-बाबा, कत्थक, भाट, अरे! भिखारी और पशु तक संगीत की सहायता से अपने भार-रूप जीवन में आनन्द को देख और उसका साक्षात्कार कर सकते हैं या उसमें नवीन आनन्द को निर्माण कर सकते हैं।

संगीत की इस असाधारण शक्ति को देखकर इसका दुरुपयोग करनेवाले भी कम नहीं पैदा हुए। संगीत एक प्रकार की मानसिक मदिरा का भी काम दे सकता है, यही देखकर हिंसा-कुशल लोगों ने इसे युद्ध में स्थान दिया है। "शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः" जब एक दम बजने लग जाते हैं तब आदमी अपने-आपको भूल जाता है, रणमत्त बन जाता है और चाहे जो करने को तैयार हो जाता है। लश्करी बैंड तो फ़ौज का आधा

प्राण है। सात्विक लोग इसी संगीत का उपयोग भक्ति-भाव का विकास करने में करते हैं। और कितने ही लोग तो ताल-मृदंगादि वाद्यों को मनमाना ठोक-पीट कर वृत्तियों को बधिर कर डालते हैं। वे इस उन्माद को ही आध्यात्मिक उन्नति समझ लेते हैं। पूजा के पहले अफ़ीम खा कर उसमें एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न जितना प्रमादमूलक है उससे यह किसी प्रकार कम नहीं है।

संगीत तो भावना की भाषा, जीवन का उद्गार है। सच्चा संगीत जीवन का प्रतिबिम्ब ही होता है। आगे चलकर वही जीवन का मार्ग-दर्शक भी बन जाता है। जीवन में जब नव रसों का विकास होता है तभी साहित्य, कला और संगीत में भी नवरस खिलने लगते हैं। समस्त समाज का जीवन जागृत होगा तो संगीत भी सर्वत्र जागृत रहेगा। जीवन-ज्योति जब मंद हो जाती है, उसपर जब राख छा जाती है, तब संगीत भी समाज में अप्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे समय संगीत के कितने ही उपासक प्रयत्न-पूर्वक संगीत की विरासत को सुरक्षित रखने की चेष्टा करते हैं। शनैः-शनैः उनका एक वर्ग ही बन जाता है। हरिदास के बाद तानसेन अवश्य ही आवेगा। यह स्थिति अपरिहार्य है। अपनी पुरानी विरासत की रक्षा करनेवाला एक पृथक वर्ग ही न हो तो प्रमादी समाज को सर्वस्व गंवाने में कोई देरी न लगे। संगीत की विरासत को क़ायम रखने के लिए जहाँ एक पृथग्वर्ग बना कि अवश्य ही वह फ़ुरसत और योगक्षेम की निश्चिंतता की माँग पेश करेगा। निश्चिंतता प्राप्त करने का उसे हक़ ज़रूर है, पर यह एक जुदा सवाल है कि इससे उसे फ़ायदा भी होगा या नहीं। बिना जड़ के पेड़, और बिना कीच का

कमल निष्प्राण और असत्य हो जाता है। उसी प्रकार जीवन-यात्रा के प्रयास से शून्य जीवन दिन-ब-दिन समाज से पृथक् होता जाता है। जीवन-मंत्र को भूलकर वह विकृत दशा को प्राप्त होता है।

संगीत के संरक्षक फ़ुरसत भले ही प्राप्त करें, संगीत के रसिकों को—हम लोगों को—उनसे ईर्ष्या नहीं होगी। उनको प्रसन्न रखने में ही हम प्रसन्न रहेंगे। पर संगीत-रक्षकों को हम यह तो जरूर नम्रता-पूर्वक कहेंगे कि आपको जीवन के सभी अंगों और उपांगों से परिचित रहना चाहिए। सो भी केवल इस ख़याल से कि आपकी विद्या—सब विद्याओं में यह श्रेष्ठ विद्या—व्यर्थ न होने पावे। समाज का पुरुषार्थ, समाज की कठिनाइयाँ, समाज की आकांक्षायें, समाज का साहित्य, और समाज के आदर्शों के साथ आपको एकरूप तो अवश्य ही हो जाना चाहिए। आप में से अधिकांश समाज से एक-रूप होना तो दूर की बात है, उपर्युक्त बातों से मामूली परिचय भी नहीं रखते। कई वर्ष पहले जब मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिला था, तब उन्होंने मुझसे कहा—"मुझे एक महाराष्ट्रीय गायक की आवश्यकता है। यों तो मैं चाहे जितने गायक इकट्ठे कर सकता हूँ, पर ऐसा गायक तो आपके प्रान्त से ही आसानी से मिल सकता है जो शान्तिनिकेतन के वातावरण में एकरूप हो कर उसके लिए आशीर्वाद-रूप हो सकता हो।" आज मेरे मित्र भीमराव शान्तिनिकेतन को संगीतमय कर रहे हैं। महाराष्ट्र ने अभी तक संगीत का अपमान नहीं किया। अच्छे कुलीन लोगों ने अबतक अपने संगीत की विरासत की रक्षा करने का कार्य किया है। इसलिए संगीत को भी कुलीन संस्कारों का लाभ प्राप्त हो सका है।

संगीत के लिए फ़ुरसत की जरूरत होती है, इसी ख़्याल के कारण संगीताचार्य राज्याश्रय ढूँढ़ने लगे । और क्यों न ढूँढ़ें? स्वराज्य में राज्याश्रय ढूँढ़ना कोई नीचता की बात तो थी नहीं। फिर जब पंडित और साहित्याचार्य लोग—

अनाश्रया न शोभन्ते पंडिता वनिता लताः ।

गा गाकर राज-प्रशस्तियाँ लिखने में दत्तचित्त होने लगे तब बेचारे संगीताचार्य भी उनका अनुकरण करने लगें तो इसमें कौनसो आश्चर्य की बात है ?

तू वे मोमद्सा द्रबार, निजामुद्दीन सुजान ।
धवल कलस पर बलि-बलि जैये, तुम पर जी ये क़ुरबान ।
निजामुद्दीन सुजान ॥

श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ संगीत और निरी खुशामद का यह एक उत्तम नमूना है ।

यह सत्य है कि राज्याश्रय के कारण उच्च संगीत अमीरों के ही उपयोग की चीज़ हो गया। पर उस ज़माने में पूँजीपति और ग़रीब के बीच आज के जैसा असहयोग नहीं था । राज्य-गायक प्रतिदिन मंदिरों में जाकर गाते, यात्राओं में भी जाते, ग़रीबों में रहकर उन्हें भी थोड़ी-बहुत तालीम देते और इस तरह सामाजिक जीवन में संगीत का प्रवाह बहाते थे । हम लोगों का जीवन संगीतमय है। बालक पैदा हुआ कि संगीत, उपनयन में संगीत और विवाह में भी संगीत । कितनी ही जातियों में तो मनुष्य संसार-यात्रा पूरी करता है तब भी संगीत होता है। क़रीब-क़रीब सभी धार्मिक क्रियायें बिना संगीत के अधूरी मानी जाती हैं । (मुझे यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि हमारे सार्वजनिक संगीत

में जो कर्ण-कठोर भाग पैठ गया है, उसे निकाल डालना आवश्यक है ।)

राज्याश्रय का ज़माना बीत गया। अब लोकाश्रय का ज़माना आया है। लोकाश्रय के मानी हैं मध्यमवर्ग का आश्रय । इस आश्रय में कलाधर अधिकांश में स्वतन्त्र रहकर स्वाभिमान का विकास कर सकता है। पर यदि यह लोकाश्रय पश्चिमी ढंग का अनुकरण करने लगेगा तो वह समाज के लिए कदापि आशीर्वाद-रूप नहीं साबित हो सकता। राज्याश्रय के पुराने ज़माने में ग़रीबों का बहिष्कार कदापि नहीं था। धर्म-संस्थायें ग़रीबों को संगीत परोसने का काम करती थीं। आजकल के नास्तिक ज़माने में केवल टिकट के पैसे देनेवाला ही संगीत सुन सकता है। यही दशा सर्वत्र हो जायगी तो ग़रीबों को जीवन के इस एकमात्र समाधान से भी वंचित होना पड़ेगा। लोकाश्रय पर निर्भर रहकर संगीत का उद्धार करने वाले पं० विष्णु दिगम्बर जब हरद्वार आते और गंगा-तट पर बैठ गंगा मैया को अपना संगीत सुनाते तब मुझे बड़ा आनंद होता। क्योंकि इस बहाने सर्व-साधारण को अनायास उनके संगीत का लाभ मिलता। जिस दिन ग़रीब लोग संगीत से पूर्णतया वंचित रहने लग जायँगे निःसंदेह उसी दिन वे पूरे-पूरे शैतान हो जायँगे। हमारा पुराना भोला-भाला जीवन नष्ट होता जा रहा है। जीवन-कलह में मनुष्य की अनेक सद्वृत्तियाँ मारी जा रही हैं । ऐसे समय तो संगीत की और भी अधिक आवश्यकता है। हज़ारों-लाखों मज़दूरों को एकत्र करनेवाले मिल-मालिकों से मैं ज़रूर कहूँगा कि अपने आश्रितों को आप शुद्ध संगीत सुनाने की व्यवस्था कीजिए। फिर वह भले ही लोक-संगीत हो या शास्त्रीय संगीत,

इसकी कोई बात नहीं। उनकी भजन-मण्डलियों का उत्साह बढ़ाइए। संगीतामृत का प्रवाह शुरू होते ही शराबखोरी और झगड़े कुछ अंशों में तो जरूर कम होंगे।

सच देखा जाय तो संगीत ग़रीबों का जन्म-सिद्ध अधिकार है। शास्त्रीय संगीत का उद्भव होने से पहले जहाँ-तहाँ लोक-संगीत का ही प्रचार था। उसका जन्म भोली-भाली प्रजा में ही हुआ है। प्रजा अधिकांश में अपने इस हक़ को गँवा बैठी यह उसी का अपराध है। अथवा यह कैसे कह सकते हैं कि वह अपराध ही है? उनके जीवन पर ही उनका अपना अधिकार कहाँ है, जो इसे हम उनका अपराध कहें? हाँ, यह उनका दुर्दैव जरूर है। लोक-संगीत शुद्ध सुवर्ण है। उसी को कूट-पीट कर, क़लई चढ़ा कर शास्त्रीय संगीत निर्माण हुआ है। लाला लाजपतराय ने अपने अमेरिका के अनुभवों में लिखा है कि महाराष्ट्र और बंगाल के विद्यार्थियों में ही कुछ-कुछ संगीत दिखाई देता है। शेष तो संगीत से अस्पृष्ट रहते हैं। सुशिक्षित लोगों के विषय में यह टीका सत्य है। यद्यपि सत्याग्रहाश्रम, गुजरात विद्यापीठ और इस संगीत-मण्डल ने इस टीका को, जहाँ तक उसका गुजरात से सम्बन्ध है, दूर करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। हमारी राष्ट्रीय शालाओं में संगीत एक आवश्यक—और मैं आशा करता हूँ कि—आकर्षक विषय बन गया है। यह भी सौभाग्य का विषय है कि गुजरात के कवि अपनी कवितायें लोक-संगीत के ढाँचे में ही ढालते हैं।

काव्य और संगीत के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका विशेष विवेचन करने की मैं यहाँ आवश्यकता नहीं देखता। तथापि काव्य और संगीत एक दूसरे के आश्रित नहीं है। काव्य स्वतंत्र

रूप से रह सकता है। संगीत भी बिना काव्य की सहायता के अपनी भावगम्य वाणी बोल सकता है। संगीत एक स्वतन्त्र भाषा है। इसका व्याकरण भिन्न होता है। इसके भाव भी स्पष्ट होते हैं। शब्दों की अपेक्षा संगीत के आलाप अधिक व्यापक और प्रभावोत्पादक होते हैं। संगीत की भाषा को सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। तथापि यदि किसी समाज के जीवन का हमें थोड़ा-सा परिचय हो तो बिना भाषा समझे भी संगीत पर से उसके भाव समझे जा सकते हैं। इसीलिए संगीत-प्रवीण गाते समय अपने संगीत के शब्दों के विषय में इतने लापरवाह रहते हैं। पर उन्हें इतना तो अवश्य ही जान लेना चाहिए कि संगीत भाषा-निरपेक्ष भले ही हो, पर काव्य और संगीत के बीच विसंवाद को कोई भी संस्कारी-रसिक मनुष्य नहीं सह सकता। कितने ही गायकों का यह भी मत है कि पुरानी चीज़ों में शब्दांतर नहीं किया जा सकता। महज़ इसीलिए कितनी ही सर्वोत्कृष्ट संगीत वाली चीज़ों में नीरसता और अश्लीलता पाई जाती है। और उसे पसन्द न होने पर भी सुनना पड़ता है। 'सैंया गुय्यां', जैसे शब्द भी उनकी राय में वेदमन्त्र के जैसे ही अपौरुषेय होते हैं। फिर उनमें परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस जड़ता को तो उन्हें अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

एक ओर नित्य नवीनता को ढूँढने वाला चंचल समाज परिवर्तन चाहता है वहाँ दूसरी ओर यह वृत्ति है कि संगीत में परिवर्तन हो ही नहीं सकता। एक बार ऋषियों ने जो निश्चित किया सो किया। उसमें परिवर्तन करने का अधिकार क्षुद्र-पामर मनुष्य को कैसे हो सकता है? 'पुराण मित्येवहि साधु सर्वम्' मानने वालों की राय में विलासी तानसेन भी संगीत का एक ऋषि ही

है। तानसेन के बाद सङ्गीत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। सङ्गीत भी सामाजिक सङ्कट के भय से ग्रस्त हो रहा है और मृत्यु की स्थिरता को वह प्राप्त करता जा रहा है। पर इसमें केवल गायकों का दोष नहीं है। अज्ञानी और असंस्कारी लोग संगीत के नाम मनमानी बेहूदी बातें जब करने लगते हैं, तब स्वभावतः गायकों के लिए पुराने को ही पकड़े रहना एक कर्तव्य-सा हो जाता है। प्रत्येक शास्त्र और कला के समान सङ्गीत में भी नवीन निर्माण के लिए स्थान है। पर यह काम हर-किसी मनुष्य के हाथ नहीं हो सकता। जीवन की गहराई में जो उतर सकता है, भविष्य की आकांक्षाओं को जो अपने हृदय में अनुभव कर सकता है, और साथ-ही-साथ जिसने अपनी पुरानी विरासत को हजम कर लिया है वही नवीनता का निर्माण कर सकता है। राष्ट्रीय जीवन में जब बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, तब अवश्य ही संगीत में भी परिवर्तन का होना अनिवार्य है। इसी नियम के अनुसार इस्लामी संस्कृति के परिचय के साथ-साथ हमारे यहाँ हिंदुस्तानी संगीत का जन्म हुआ। अंग्रेजों के आगमन के बाद यदि हमारे सङ्गीत में कोई नई बात शामिल नहीं हुई तो इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि अंग्रेजों के जीवन में सङ्गीत ही नहीं है या वे हम से एकदम अलग रहते हैं। अहमदाबाद-जैसे शहर में लग्न-कार्यों में गली-गली गधे की तरह भूँकने वाला बैंड हमारे जंगलीपन की निशानी भले ही हो पर वह अंग्रेजों के सङ्गीत का नमूना तो कदापि नहीं कहा जा सकता। अपने को संस्कारवान् सिद्ध करने के लिए हम तथा अंग्रेज लोग चाहे कितनी ही किताबें प्रतिदिन लिखते रहें पर इन सब का खासा उत्तर तो वह बैंड बाजा ही है कि हम

और वे दरअसल संस्कारवान् हैं या नहीं। जो लोग कुछ भी संस्कारी होने का दावा करते हैं, उनको ऐसे जुलूसों में सम्मिलित होने से साफ इन्कार कर देना चाहिए जिनमें वह बेहूदा बैंड बाजा बजता हो। हमारे रथ्या-संगीत में बहुत भारी सुधारों की आवश्यकता है। बीस-पच्चीस वर्ष पहले पूना और सातारा की सड़कों पर जो रथ्या-संगीत सुन सकते थे, वैसा आज-कल शायद ही कहीं सुनाई दे। क्या धन बहाकर जंगलीपन का सिक्का अपने सिर पर लगाना अब भी हमारे शहरवासी नहीं छोड़ेंगे ?

हमारे सामाजिक जीवन के साथ-साथ कदम रखनेवाला नवीन सङ्गीत हम अवश्य निर्माण कर सकते हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन नित्य नया रूप धारण करता है, नित्य नवीन सामाजिक आदर्श और भाव समाज में प्रकट होते जा रहे हैं और सब नवीन सङ्गीत चाहते हैं। हमारी महासभा, हमारे सम्मेलन, हमारी परिषदें, हमारे आश्रम और नवीन-नवीन धन्धे सब को नूतन संगीत की आवश्यकता है।

अमुक राग में अमुक रस होता है, फलाँ राग फलाँ वक्त ही गाई जा सकती है आदि नियम हमारे वैदग्ध्य और उच्चाभिरुचि को प्रकट करते हैं। पर जहाँ रागों के नाम बदल दिये गये हैं, शुद्ध कोमल की परिभाषा बदल दी गई है, तहाँ पुराने शास्त्रों का अर्थ बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। क्या हम भी इस बात को नहीं मानते कि काल-भेद के अनुसार रागों के रस और भाव बदलते रहते हैं ? हमारे पूर्वजों ने संगीत का यह जो मानस-शास्त्र अथवा रस-परिपाक की मीमांसा का निर्माण किया है उसका हमें केवल जड़ता से स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए। बल्कि

विवेकपूर्वक उनका अध्ययन कर, नवीन-नवीन तरह के प्रयोग करके हमें उसमें नवीन शक्ति का विकास करना चाहिए, तभी हम अपने को अपने कीर्तिशाली पूर्वजों के वंशज कहलाने योग्य साबित कर सकेंगे। पूर्वजों की कीर्ति पर हमारा कबतक निर्वाह होगा? जातवान घोड़े को अपने मातृ-पितृ वंश का उच्चार नहीं करना पड़ता।

नवीन रचना जब होगी तब होगी। पर तब-तक यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ही सुरक्षित रख सकें तो भी काफी है। डाकिया जिस तरह एक गाँव का पत्र दूसरे गाँव को ज्यों-का-त्यों पहुँचा देता है उसी प्रकार यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ज्यों-की-त्यों नवीन जमाने के हाथों में सौंप दें, तो यह सेवा भी कोई मामूली सेवा नहीं होगी। यह काम तो संगीत की परम्परा को समझ कर संगीत को लिपिबद्ध करके ही हो सकता है।

अब इस विषय में कोई संदेह नहीं रहा कि संगीत लिपिबद्ध हो सकता है या नहीं? आपके मन्त्री ने गुजरात के उत्तमोत्तम संगीत को लिपिबद्ध करके दिखा दिया है। मैं आशा करता हूँ कि उनकी यह किताब शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इस विषय में केवल यही सवाल रहा है कि सबके लिए एक ही स्वरांकन-लिपि रक्खी जाय, या सर्वसाधारण के लिए एक स्थूल और विशेषज्ञों के लिए दूसरी सूक्ष्म और संपूर्ण स्वरांकन लिपि रक्खी जाय। निःसन्देह दोनों की पद्धति तो एक ही होगी। इस विषय में मुझे तो गाँधर्व महाविद्यालय की पद्धति ही बतौर बुनियाद के शुद्ध ज्ञात होती है।

यदि हम इस जगते राष्ट्र को संगीत की विरासत सौंपना चाहते हैं, तो उसे संगीत की तालीम देना भी परमावश्यक है। जब-तक मनुष्य एक विशिष्ट सीमा तक तालीम नहीं पाता है तब-तक

न तो उसका कण्ठ और न कान ही तैयार हो सकते हैं और तब-तक मनुष्य को संगीत का रहस्य समझने की योग्यता भी प्राप्त नहीं हो सकती। पर तालीम का संगीत और भाव-वाही संगीत ये दोनों हमेशा भिन्न-भिन्न रहने चाहिए। संगीत की कसरत अत्यन्त आवश्यक है, पर वह प्रदर्शन-योग्य नहीं है। कुश्तीबाज लोग अखाड़े में कुश्ती करते-करते डंड और बैठकें लगाकर नहीं दिखाते। इस भेद को न जानने के कारण कितने ही गायक कोई भावपूर्ण गीत गाते समय एक दम बीच में ही उसके 'सारेगम' बोलने लग जाते हैं। इससे भाव-प्रवाह टूट जाता है। उनकी तालीम भी प्रशंसनीय तो जरूर होती है पर उसमें यदि भाव का खून होता हो, तब इसे कौन सहन कर सकता है? आलाप करते-करते ही जिस प्रकार गायक लोग हर प्रयत्न से सम को साधते हैं उसी प्रकार वे भाव को भी साधने लग जायँ तो श्रोताओं को इतना आनन्द हो जाय कि मानों पृथिवी पर ही स्वर्ग आ गया।

भाववाही संगीत के दो विभाग हैं। संगीत का एक प्रकार स्वर—रचना और आलापों के द्वारा ही विकारों को उद्दीपित करता है। यह अशिष्ट होता है तहाँ दूसरी प्रकार का संगीत विकार-शामक और शुभ भावनाओं का पोषक होता है। इस भेद को जानने और उसपर अमल करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। इस दिशा में प्रयत्न करनेवाले सुरुचि-सम्पन्न विदग्ध लोग बहुत कम पाये जाते हैं। यह जमाना तो क्या जीवन और क्या साहित्य में स्वच्छंद और उच्छृंखलता को प्रतिष्ठा देनेवाला है। इसलिए उपर्युक्त काम कठिन है इसमें शक नहीं।

जीवन के दोष फिलासफी में उतरते हैं, समाज-शास्त्र में घुस

आते हैं, और साहित्य में भी प्रवेश पा लेते हैं। फिर वे कला में क्यों न घुसगे ? साहित्य को ही देखिए। पहले राजा-रानी वीर पुरुष और देवी-देवताओं का साहित्य ही लिखा जाता था। प्रजा और सेना तो चित्र को पूरा करने के लिए कहीं-कहीं दिखाई देती। आजकल अवकाश पानेवाले मध्यमवर्ग का ही साहित्य ज्यादातर लिखा जाता है। उपन्यासों का नायक खासकर कोई डाक्टर, वकील, बैरिस्टर या जागीरदार-जमींदार ही होता है। कई बार महान्-महान् विचारक भी ज़माने के दोष से मुक्त नहीं रह पाते। अरस्तू—जैसे विश्वव्यापी बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी को भी गुलामी की प्रथा स्वाभाविक ही दिखाई दी। शंकराचार्य—जैसे अद्वैत-वादी भी वेद का उच्चारण सुननेवाले अंत्यज को सजा का पात्र समझते थे। मनु महाराज भी "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" जैसे खयाल रखते थे। भक्त कवि तुलसीदास ने तो ढोर-गँवारों के साथ-साथ स्त्री-जाति को ताड़ने का भी अधिकार उदारतापूर्वक दे दिया। समाज के दोष साहित्य में अवश्य ही आवेंगे। रोमन और ग्रीक कला भी इसी कारण दुष्टता के संसर्ग से मुक्त नहीं रह सकी। क्योंकि उनका जीवन चाबुक खा-खाकर काम करनेवाले गुलामों पर ही निर्भर था। ईजिप्त के पिरामिड कितने ही भव्य हों, पर हैं तो आखिर वे वहाँ के अल्पजीवी बादशाहों के अपनी पार्थिव काया को शाश्वत बनाने के लिए रचित कबरस्तान। एक लाख लोग अपने जीवित राजा की क़बर बाँधने के लिए बीस बरस तक एक-सा पसीना बहाते रहे ! कैसा होगा वह समाज ? ऐसे समाज के द्वारा प्रकट की गई कला यदि आसुरी हो भी, तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है ? विजयानगर के भव्य खंड-

हर, और फूलों की महान् राशि के समान ताजमहल देखकर हम भले कितने ही आश्चर्य-चकित क्यों न हो जायें पर उनके अन्दर जो ग़रीबों की हाय छिपी हुई है, उसे देखते ही यदि हममें कुछ भी मनुष्यता है, तो हमारा सारा आश्चर्य और आनंदोन्माद उतर जाना चाहिए। शुद्ध संगीत निष्पाप, तेजस्वी और करुणा-मय जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि संगीत भावना की नैसर्गिक भाषा है। जैसा जीवन वैसी भावना, जैसी भावना वैसा संगीत।

संगीत के मानी केवल गायन नहीं है। गायन, वादन, नर्तन अभिनय इन सबका संगीत में समावेश होता है। हमारे यहाँ गायन-वादन का तो काफी प्रचार है, पर नर्तन कुछ हद तक गौण समझा जाता है। इसका कारण यही हो सकता है, कि या तो मर्दाना नर्तन भुला दिया गया है, या हमारे शरीर ही अब नर्तन-योग्य नहीं रह गये। नर्तन का गायन की अपेक्षा अधिक उद्दीपक होने की सम्भावना है इसीलिए पुराने लोगों की रुचि को वह विपरीत जान पड़ा। कई बार मन्दिरों में भक्त नर्तन करते हैं, गुजरात में 'गोप-रास' 'डाँडिया-रास' 'गरबियां' आदि नर्तन के कितने ही प्रकार रूढ़ हैं। कितनी ही जंगली किन्तु निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाली जातियों में स्त्री-पुरुषों के मिश्र-रास भी देखे जाते हैं।

गायन, वादन और नर्तन इन तीनों का सम्मेलन संगीत को परिपूर्ण बना देता है। हमारे पूर्वजों ने राग-रागिणियों के स्वरूप और ध्यानों की कल्पना की है। ऋतु, समय, चित्रकला, गंध, रूप, तमाम वस्तुओं के साथ उन्होंने संगीत की कल्पना की है।

रेखा, वर्ण और रूप; गंध, रस और समय; रचना, औचित्य और तारतम्य; न्याय, कारुण्य और प्रेम इन सबका बिना संगीत के साथ अविरोध अथवा बिना सम्वाद उत्पन्न किये संगीत सम्पूर्ण हो ही नहीं सकता। जीवन के अङ्ग-प्रत्यंगों में जबतक लेशमात्र भी विसंवाद होगा तबतक जीवनव्यापी संगीत हमें कहीं सुनाई नहीं दे सकता। मनुष्य का हृदय जब पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेगा तभी चिर-अपेक्षित विश्व-संगीत का आरम्भ होगा। शुद्ध नीति, सदाचार और पावित्र्य इस विश्व-संगीत का व्याकरण है, अहिंसा और आत्मौपम्य ये इसके अन्तिम रस हैं।

प्राचीन साहित्य ×

साहित्यकारों ने कविता की तुलना कान्ता से की है। शास्त्रकारों ने कुटुम्ब में जो प्रतिष्ठा स्त्री की कल्पित की है वही संस्कारी जीवन में साहित्य की भी है। जो समाज स्त्री की प्रतिष्ठा को भूल जाता है वह साहित्य की क़दर भी क्या करेगा ?

जो मनुष्य जीवन-भर व्रत-नियमादि किया करता है, उसे यह होश नहीं रहता कि हम कहाँ थे और कहाँ आते हैं। उसके लिए भूत और भविष्य दोनों शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारों का भी यही हाल तो नहीं गया ? संस्कृत साहित्य के रहस्य को प्रकट कर देनेवाले टीकाकार कम नहीं हैं। यदि साहित्य का कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारों की सेना इतनी बड़ी है कि वह जिस देश को चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्य को व्यापक दृष्टि से देखना किसी को सूझा ही नहीं। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमान में बैठकर लङ्का से अयोध्या तक के प्रदेश का निरीक्षण विहग-दृष्टि से कर सके, अथवा यक्ष पर दया कर के वह हिमगिरि से अलकापुरी तक मेघ को भेज सके, उस तरह एक भी टीकाकार को यह नहीं सूझा कि वह साहित्य-खण्ड का

× कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'प्राचीन साहित्य' के गुजराती अनुवाद के उद्देश्य से लिखा हुआ लेख।

समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पाँच मनुष्यों का ही मनोरञ्जन कर सकती है, उसका सङ्गीत किसी महासभा में व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारों की दृष्टि भी एक सम्पूर्ण श्लोक के बाहर नहीं पहुँचती। ज्यादा-से-ज्यादा यदि उन्होंने यह बता दिया कि नान्दी का श्लोक सम्पूर्ण नाटक की वस्तुओं को किस तरह सूचित करता है, तो वे कृतार्थ हो जाते हैं। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराई में उतर सके हैं, उतने विस्तार से देख नहीं सके। एक श्लोक के भीतर दस-पाँच अलंकारों की संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं; परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि एक सम्पूर्ण महाकाव्य या खण्डकाव्य किस तरह एक राग है, उसका आत्मा कहाँ है ? इसका अपवाद-रूप एक क्षेमेन्द्र गिना जा सकता है। इस काश्मीरी महाकवि ने अलंकार और रसों के बाद औचित्य का महत्व बतला दिया है। उसने एक ही कवि के एक ही श्लोक का रस निचोड़ने के बदले संस्कृत साहित्य के बत्तीस विख्यात कवियों की भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियों को लेकर उनके गुण और दोषों की विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषों को बताते समय अपने दोषों को भी ध्यान में लाना नहीं भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्र को भी नहीं सूझी थी कि एक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य लेकर उसके रहस्य की खोज की जाय। इसकी दृष्टि से औचित्य था—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे ॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यथाशिषि ।

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

कितनी ही जगहों में औचित्य-विचार की चर्चा करके कवि रुक गया है। रवीन्द्रनाथ ने हमें साहित्य की ओर देखने को एक नई दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्य का निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओं की स्वयम्भू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणी-संहार' लिखता है, तब द्रौपदी का क्रोध, भीम की प्रतिज्ञा, कर्ण का मत्सर और अश्वत्थामा की जलन का चित्र खींचने के बाद वह राष्ट्रीय उत्थान और पतन की मीमांसा भी अपने ढङ्ग से करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठते हैं तब रघु के कुल की ही नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृति की प्रकृति और विकृति को अंकित कर देना चाहते हैं।

हमारे कवियों की कृतियों की ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टि से देखने की वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगों ने सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथ का आर्य-हृदय तो संस्कृत-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टि से ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस-पाँच लकीरों से ही सम्पूर्ण चित्र को सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर लिखे हुए पाँच-सात स्फुट निबन्धों से ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्थान का इतिहास किस पुरुषार्थ को लेकर बैठा है, इत्यादि। संस्कृत कवियों में ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु

उनमें ऐतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख-दुःखों की प्रतिध्वनि उनके हृदयों से जरूर उठती है। राष्ट्र के उत्कर्ष के साथ वे आनन्दित होते हैं और उसकी मूर्छा के साथ मूर्छित। लोगों का अधःपात देखकर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेमभरे और मनोहर वचनों से समाज को सचेत करना चाहते हैं

जहाँ शास्त्र का वश नहीं चलता, जहाँ नीतिशास्त्रकार 'ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे' इस तरह अरण्यरोदन करते हैं, वहाँ कविजन अपनी सहृदयता से समाज के हृदय को जागृत करके समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर देते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और उनकी जाति के अनेक स्मृतिकार समाज पर जो प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके, उस प्रभाव को लुटेरों का प्रमुख वाल्मीकि एक अमर काव्य-द्वारा उत्पन्न कर सका है। श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, षट्पदी के समान सुन्दर स्तोत्रों को लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्य ने उससे कहीं बढ़कर दिग्विजय प्राप्त किया है। शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खण्डन-मण्डन-द्वारा विरोधियों की बुद्धि पर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करनी पड़ी, परन्तु जब वे परम-हंस अपने सुन्दर स्तोत्रों का आलाप करते होंगे तब लोक-हृदय स्वेच्छा से, राज़ी-ख़ुशी से पिंजड़े में आ गया होगा। ऐसे कवियों का हृद्गत भाव प्रकट करने के लिए उनके समान ही समर्थ कवियों की आवश्यकता थी। बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्याय-शास्त्र के छिलके छीलने के बाद साहित्य-शास्त्र की 'सर्जरी' सीख कर तैयार हुए टीकाकारों का वह काम नहीं। वाल्मीकि,

भवभूति, भास और कालिदास के समान कवियों ने रवीन्द्र के समान समालोचक को पाकर 'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः' कह कर उसी तरह की कृतार्थता का अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लर का जन्म होने पर महादेव को अपनी सृष्टि रचना पर हुई होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियों की श्रद्धा रवीन्द्र-जैसे समान-धर्मात्मा को देखकर चरितार्थ हुई होगी।

जब पुराने टीकाकारों ने हमें अपेक्षित दृष्टि नहीं दी, तब हमारे पाश्चात्य पण्डितम्मन्य अध्यापकों ने हमें उल्टी ही दृष्टि दी। उन्होंने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिंदी इतिहास में कुछ भी नहीं। यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिंदी-काव्य सर्वदा निचली श्रेणी में गिने जाते हैं; इतना ही नहीं वरन् 'क्षेमं केनचिदिंदुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोक जिस समाज में निर्माण हुआ, जो समाज क़िलों की दीवारों में नहीं, किन्तु वन-उपवन की गोद में ही परिवर्धित हुआ है, उस समाज के कवियों को निसर्ग निहारने को नेत्र नहीं हैं, ऐसा कहने की भी ढिठाई करने में वे और उनके शिष्य नहीं हिचकते! हबशी मनुष्य जब-तक अपना-सा रंग और अपनी-सी नाक तथा होंठ किसी के नहीं देखते तबतक उसे कभी सुन्दर नहीं गिनते।

हिन्दुस्थान का इतिहास उज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्य-पूर्ण है। पर वह यूरोपियन इतिहास से बिलकुल भिन्न है। रवीन्द्र-नाथ ने हमें बतलाया है कि वह सरकारी तहख़ानों और तवारीख़ों में नहीं, बल्कि उस देश के साहित्य में मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय-जीवन सजीव रूप में विद्यमान है। यह हमारी रंगभूमि तरह-

तरह के उपकरणों से 'व्हाइट वे लेड लॉ' कम्पनी के 'शो-रूम' का प्रदर्शन नहीं करती; इसका कारण हमारा जंगलीपन नहीं, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन टीकाकारों की कल्पना में भी नहीं आ सकती। पर हमें यह समझाना भी रवीन्द्रनाथ के ही नसीब में बदा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ यक्ष के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नहीं; किन्तु रवीन्द्रनाथ ने तो उसी को अपना दूत बनाकर उसके द्वारा हमें प्राचीन समय के भारत का साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य इतिहास के पद को प्राप्त कर सकता है। यह उन्होंने रामायण की मीमांसा करके सिद्ध किया है। इस तरह अनेक पद्धतियों से उन्होंने संस्कृत साहित्य का उद्घाटन किया है।

परन्तु रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा खास सोलहों आना प्रकट हुई है, उनके कुमार-सम्भव और शाकुन्तल के निबन्धों में। जर्मन कवि गेटे की एक-श्लोकी टीका को लेकर कवीन्द्र चले हैं और उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण कृति है। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट के साथ शाकुन्तल की तुलना करके शेक्सपियर के मुकाबिले में उन्होंने कालिदास की अभिरुचि की श्रेष्ठता को प्रकट करने के योग का भी बड़ी अच्छी तरह साधन किया है। शकुन्तला पर लिखा उनका निबन्ध एक अपूर्व योग है। कालिदास, गेटे, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ इन चार प्रतिभा-सम्पन्न, विश्व-विख्यात महाकवियों का कण्वाश्रम में सम्मिलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नहीं। कवियों की वाणी में कल्पनाओं के चाहे

जितने फ़व्वारे उड़ते हों, तो भी वह वाणी ख़ाली कल्पनामय नहीं होती। यह बात तो रवीन्द्रनाथ ने ही सब से पहले इतनी सम्पूर्णता से प्रकट की है। उन्होंने बताया है कि उसमें तो व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन-रहस्य का तत्त्वज्ञान होता है; समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र इनके अन्तिम सिद्धान्त का तर्क की दस्तंदाजी और गड़बड़ से बचाकर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्हें अनुप्राणित करते हैं और उसे जीवन के समान एक सम्पूर्ण और सजीव कृति निर्माण करते हैं। जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सृष्टि सभी एक-रूप है, ऋषियों के देखे हुए इस सिद्धान्त को कविजन हमारे सम्मुख मूर्तिमान् खड़ा कर देते हैं। संस्कृत में 'कवि' शब्द से जो भाव मन में उत्पन्न होते हैं वे अंग्रेजी में 'पोएट' शब्द से नहीं होते। कवि अर्थात् द्रष्टा, जो जीवन-रहस्य को देखता है, जिसे इह और पर सृष्टि दोनों समान तथा प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद में उतर सकता है। जो इस संसार में रहते हुए भी इस संसार का नहीं, वही कवि है। और कवि वही है जो चर्म-चक्षु से नहीं देखता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टि से नहीं होता, और जो ऐसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसंवेद्य अनुभवों का सम्पूर्ण साक्षात्कार करके कि, जिनके लिए व्यावहारिक संसार में प्रमाण नहीं मिलता, उन सब अनुभवों को शब्द अथवा वर्ण के समान मर्यादित साधनों द्वारा दूसरों के लिए भी प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि वे हैं जो इस सृष्टि की—इस बाह्य-सृष्टि और अन्तः सृष्टि की—आधार-स्वरूप ईश्वरीय योजना का, ईश्वरी लीला और ईश्वरी आनन्द का साक्षात्कार कर सकते हैं। वैदिक ऋषि जब ईश्वर-स्तुति की ऊर्मि के शिखर पर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वर को ही 'कवि'

कहकर पुकारते हैं। इस सृष्टि को ईश्वर का काव्य बतलाते हैं। इसीलिए कवि का सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टि का रहस्य जानने वाला। कालिदास ने जीवन के रहस्य को किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथ ने जाना, और न जाना राघवभट्ट ने। इस रहस्य को जान सके गेटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियों की कृतियों पर टीकाकार तो बहुत हो गये हैं, परन्तु 'काव्येर उपेक्षिता' में रवीन्द्रनाथ ने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही हैं। 'काव्येर उपेक्षिता' एक असाधारण टीका है। पर वह उतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ एक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही एक निबन्ध लिख-देते तो भी साहित्य-रसिकों को उनकी काव्य-शक्ति का पूरा-पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठक के लिए यह जान लेने के लिए किसी भारी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि 'चोखेर बाली' तथा "नौका डूबी" उसी कवि के लिखे हैं जिसने 'काव्येर उपेक्षिता' में पत्र-लेखा का विवेचन किया है।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टि का निरीक्षण करते ही नहीं उन्हीं पुरानी उपमाओं को दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वयं ही सृष्टि का निरीक्षण करते हैं और न काव्य का परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथ का वह निबन्ध पढ़ेंगे, जिसमें उन्होंने काद-म्बरी का दर्शन कराया है, तो अवश्य उनका भ्रम दूर हो जायगा। साहित्यकार जो बाणभट्ट की कादम्बरी को नारिकेल-पाक कहते हैं, उसका यह बढ़िया-से-बढ़िया उदाहरण है। बाणभट्ट के काव्य-कान्तार में गेंडे के समान अकुतोभय संचार तो वही कर सकते

हैं, वन-वाराह के समान वहाँ मुस्तात्तति भी वही कर सकते हैं, हरिणों के समान कल्पना-तृणांकुरों को अर्ध-विलीढ़ करके इतस्ततः वही फेंक सकते हैं, अथवा अभिनवमधु-लोलुप भ्रमर के समान वही वहाँ स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं। जिन्होंने हिमालय के समान पर्वत और मेघना या पद्मा के समान नदियाँ देखी हैं, अथवा जिन मनुष्यों ने पुष्प, पक्षी, तारे और लड़कों के साथ खेलने में बरसों व्यतीत कर दिये हैं। संस्कृत-साहित्य में अंतःसृष्टि और बाह्यसृष्टि का जो सारूप्य और तादात्म्य है, उसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्र-नाथ को मिला है। इसीसे कालिदास, बाणभट्ट और वाल्मीकि के समान कविजन पुत्र-संक्रांत-लक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये हैं।

जब से हिन्दुस्तान में युनिवर्सिटी स्थापित हुई तब से प्रत्येक ग्रन्थ का बहिरङ्ग-परीक्षण करने की प्रणाली बहुत ही बढ़ गई है। काल-निर्णय, पाठ-भेद की मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम खूब सीख गये हैं, और यदि एक ग्रन्थकार के नाम पर अनेक ग्रन्थ हों तो हम यह भी अनुमान करने लग गये हैं कि एक ही नाम के अनेक लेखक हो गये होंगे, और इन ग्रन्थों के लेखक भिन्न-भिन्न होंगे। सत्यान्वेषण की दृष्टि से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सभी आवश्यक और महत्वपूर्ण तो जरूर है। परन्तु यदि हम बग़ीचे की लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतर के वृक्षों की तफ़सील और गिनती आदि ऊपरी बातों की ही जानकारी करने में सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलों की सुगन्धि और फलों का स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्त के समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षा का आदर्श और शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन करना चाहते हैं। पाश्चात्य आदर्श को गुरु-स्थान में रखकर उस गुरुदृष्टि से संस्कृत-साहित्य की खोज करना हम नहीं चाहते। हम अपने प्राचीन कवियों के समीप शिष्य-भाव से समित्पाणी हो कर जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासा से उनसे प्रश्न करना चाहते हैं। ऐसे प्रसंग पर संस्कृत-साहित्य के विषय में यह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे कवि-सम्राट ने कहा है, और जिनके लिए हमें अभिमान है।

कला, जीवन और तत्त्वज्ञान

सामान्यतः तत्त्वज्ञान नीरस विषय समझा जाता है, और कला रसमयी, नहीं रसरूप समझी जाती है। आज समाज में दोनों के प्रति अ-भाव है, क्योंकि समाज में दोनों का अभाव है। सच पूछिए तो प्रत्येक कला का आधार तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान जब जीवन में प्रवेश करता है तब वह जीवन के आनन्द के साथ मिलकर कला का रूप धारण कर लेता है। जिस तरह सुन्दर गायक का अधार भावगम्य छन्द और ताल-बद्धता होती है उसी तरह कला का आधार तत्त्वज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कला होती है। इसका कारण उस समय समाज के जीवन का आदर्श अथवा पुरुषार्थ की कल्पना की भिन्नता ही है। इसी से हमारे देश में धर्म-भेद के अनुसार तान्त्रिक, वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध और इस्लामी आदि कलायें भिन्न-भिन्न रीति से प्रकट हुई हैं। धर्म-भेद क्रमशः होता है इसीलिए कला में भी परिवर्त्तन धीरे-धीरे होता है। एकेश्वरवादी ख्रिस्ती धर्म ने ग्रीक लोगों के अनेक देवी-देवताओं का त्याग किया, पर यूरोप की प्रजा इतना परिवर्त्तन एकदम कैसे सहन कर सकती थी? प्रजा ने देवी-देवताओं के स्थान में ख्रिस्ती सन्तों को बैठा दिया और उपासना की बहुविधता की अभिलाषा को तृप्त करने का मार्ग खोज लिया और इस

तरह ग्रीक कला में जो कल्पना-समृद्धि थी उसकी रक्षा कर ली। हमारे यहाँ भी अशोक के समय की कारीगरी यही सूचित करती है कि, अशोक के पहले काष्ठ-स्थापत्य बहुत ही लोकप्रिय था और पत्थर-जैसे पदार्थ में भी काष्ठ-स्थापत्य की मर्यादाओं की रक्षा करने में उस समय के कारीगरों ने आनन्द माना था। अजन्ता की कारीगरी पर भी काष्ठ-स्थापत्य का पूरा-पूरा प्रभाव दीखता है।

जब जीवन में परिवर्तन होता है तब स्थापत्य में, शिल्प में, यही नहीं किन्तु नगर-रचना में भी परिवर्तन होता है। आश्चर्य की बात है कि अहमदाबाद की पोलों× से गुजरात के समाज की वृत्ति कितनी स्पष्ट होती है इस ओर किसी का ध्यान कैसे नहीं गया। वह प्रजा जो लड़ने का जरा भी शौक़ नहीं रखती, तथापि आत्म-संरक्षण के लिए राजा पर बहुत विश्वास भी नहीं करती, जो धन कमा सकती है और उसका उपभोग करना भी जानती है, जो राज-शासन के झगड़े में तो नहीं पड़ती तथापि महाजनों के द्वारा समाज-शासन अत्यन्त सुधरी हुई पद्धति से कर सकती है, भला वह प्रजा अशान्ति के दिनों में किसी दूसरी तरह नगर-रचना कर सकती थी? इसके विरुद्ध पाटन की नगर-रचना देखिए। इसका कारण यह नहीं कि पाटन की संकृति भिन्न है। बात यह है कि असली पाटन तो इस समय रहा ही नहीं। वर्त्तमान पाटन शहर भिन्न राजकीय परिस्थिति में बँधा होगा।

मामूली मंदिरों में भी जीवन के विकास को हम देख सकते

× पोल = मुहल्ला, गली या सड़क जिसके दोनों सिरे पर दरवाज़े हों। —अनु०।

हैं। एकांत में ध्यान-मग्न रहनेवाले निवृत्ति-प्रिय शिव-उपासकों ने गुफाओं के प्रति नमूने-स्वरूप छोटे मंदिर बाँधने की प्रथा आरम्भ की। आज उन्हें गर्भ-गृह कहते हैं। प्रवृत्ति-प्रिय वैष्णवों ने जब सामुदायिक भक्ति-मार्ग शुरू किया तब इन गर्भ-गृहों के सम्मुख सभा-मण्डप की आवश्यकता मालूम हुई। इन दोनों के बीच का अन्तराल प्रदेश, जो ईंट-पत्थरों से ढक दिया गया, उसका नाम अन्तराल ही रक्खा गया। इस तरह मन्दिर में तीन विभाग हुए; गर्भ-गृह, अन्तराल और सभा-मण्डप। इन तीन विभागों का प्रतिबिम्ब राजप्रासाद में भी पड़ा। वहाँ भी जो हुकुमी सुलतान का सलाह-खाना मन्त्र-गृह, मन्त्री-परिवेष्टित राजा का दीवानेखास और प्रजानुरंजक बादशाह का दीवानेआम तैयार हुए। जहां राजा था ही नहीं ऐसे हिमालय के गण-राज्यों में न मन्त्र-गृह है और न दीवानेआम। वहाँ तो गाँव के पास टीलों पर बड़े-बड़े पत्थरों का एक चौतरा बाँधा जाता था। उसी पर बैठकर वृद्ध-जन स्वराज्य-संरक्षण का विचार करते थे। आज हम एक विराट् राष्ट्र बन गये हैं। आज की हमारी मन्त्रणा-सभा दीवानेआम में भी नहीं अट सकती। अब तो ऐसी रंग-सभा बनानी पड़ेगी जिसके भीतर राष्ट्रीय महासभा बैठ सके। जहाँ-जहाँ लोक-प्राधान्य हो वहाँ-वहाँ ग्रीक-संस्कृति का कुछ अनुकरण तो करना ही पड़ता है। इसीसे हमने वक्तृत्व-कला का विकास किया है। हमें अपनी रंग-सभा भी ग्रीक लोगों के एम्फी थियेटर के समान बनानी पड़ेगी। हां, पर रंग-सभा ऐसी ही होनी चाहिए जो भारत की उपवन-संस्कृति को शोभा दे। ईंट और पत्थरों की अपेक्षा वृक्षों पर हिन्दी संस्कृति अधिक निर्भर है। इसलिए एम्फी थियेटर

अथवा रंग-सभा का विभाग अर्ध-वर्तुलाकार कतारों में वृक्ष बोकर ही करना पड़ेगा। सभा इकट्ठी होने का समय भर-मध्याह्न हो तो इन वृक्षों में खादी की छत बाँधी जा सकती है। यही रंग-सभा सर्वदा के लिए ग्राम-देवता के मन्दिर के तौर पर गिनी जायगी, जिससे ग्रामवासी भी अनायास इसकी मरम्मत करते रहेंगे। इस मन्दिर के पास हिन्दू-मुसलमानों की एकता का सूचक एक तालाब अवश्य हो।

इस तरह हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन और सामाजिक कला का त्रिकालबाधित सम्बन्ध है। इस पर से हम यह भी देख सके हैं कि, जैसा जीवन होगा वैसी ही कला भी होगी। अब यह देखना है कि, किस तरह हम तत्त्वज्ञान के सामाजिक पुरुषार्थ के आदर्श को और तदनुसार अपनी रहन-सहन को और अन्त में रहन-सहन के अनुसार कला को बना सकते हैं। इस दृष्टि से अब हम ऊपर बतलाई हुई मन्दिर की रचना को जाँचें। मंदिर के तीन विभाग क्यों नहीं किये, दो ही विभाग क्यों रहे? यह प्रश्न रहस्यपूर्ण है। मन्दिरों में तीन प्रकार के उपासक जाते हैं। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस तल्लीनता से गर्भ-गृह में बैठ कर पूजा-अर्चा करनेवाला एक गण, देव-दर्शन के बहाने मन्दिर में एकत्र होकर पुराण-श्रवण, कथा-कीर्तन और धर्म-विवरण करनेवाला सभा-मण्डपस्थ दूसरा गण; इन दोनों समुदायों के साथ समभाव रखनेवाला, ध्यान अथवा जप इन्हीं को श्रेष्ठ साधना मानने वाला एक मध्यस्थ गण भी होता है। वह इस अन्तराल में बैठता है। इस व्यवस्था का कारण हमें अपने तत्त्वज्ञान में मिल जायगा। हमारा तत्त्वज्ञान आत्मपरायण है।

दर्शनकारों ने आत्मा के तीन विभाग किये हैं; बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा अपने को इस बाह्य-सृष्टि से संलग्न और अभिन्न मानता है। अन्तरात्मा देहधारी होते हुए भी देह से अपने को भिन्न समझता है। और परमात्मा को तो देह-भान ही नहीं होता। मनुष्य की ये तीन दशायें हैं; और इन तीन दशाओं के अनुसार वह पहले जीवन-मन्दिर के सभा-मण्डप में बैठता है, उसके बाद अन्तराल में बैठकर आत्मदेव का दर्शन किया करता है, और फिर उस साधना के पूरी होने पर गर्भ-गृह में प्रवेश करके अभेद-भक्ति में विलीन होता है। समाज में कला की प्रगति भी इन तीन दशाओं में होती है। सृष्टि-संलग्न दशा में कला बहिर्मुखी और सृष्टि की उपासक होती है। उसे यथार्थ-दर्शी (Realistic) कहते हैं। सृष्टि कामरूपिणी होती है, उसकी विविधता अनन्त है, इससे उसकी उपासना का अन्त शीघ्र नहीं आता। एकरूप में थके तो दूसरा रूप आपके सम्मुख खड़ा होता है। आप ज्यों-ज्यों सृष्टि के पाश में जकड़े जाते हैं त्यों-त्यों आप को आभास होता है कि आप की शक्ति बढ़ गई है। जिस समय प्रभुता का मद चरम सीमा को पहुँच जाता है उस समय वस्तुतः मनुष्य सृष्टि का दासानुदास हो जाता है। परन्तु ईश्वर की सृष्टि में चिर-पतित कोई है ही नहीं। आत्मतत्त्व अमर है। और इसीसे माया के पाश अपने ही भार से अन्त में गिर जाते हैं, तब मनुष्य को स्फूर्ति होती है कि नियतिकृत*

× ब्रह्मदेव की निर्माण की हुई सृष्टि के बाह्य नियम की मर्यादा से मुक्त।

नियम-रहिता, ल्हादैकमयी, × अनन्य परतन्त्र, † नवरस-रुचिरा भावगम्य सृष्टि हम क्यों न निर्माण करें ?

यह बाह्य-सृष्टि अपने सुवर्णमय ढक्कन से रसरूप परमात्मा को ढाँके रखती है। इससे यथार्थ-दर्शी कला में सुख के साथ विषाद संमिश्रित होता है। उसके आनन्द से समाधान के बदले वासना-ज्वर जागृत होता है। प्रवृत्ति का प्रवाह चाहे कितना ही रमणीय हो, वह है अधोगामी और अन्त में विषादमय ही।

इतना अनुभव हो जाने पर उपासक आत्माभिमुख हो जाता है। वह इन्द्रियजन्य रस को छोड़कर भावात्मक आनन्द प्राप्त करने लगता है। उस आनन्द को प्रकट करने के साधन, पार्थिव और इन्द्रिय-गोचर भले ही हों, तो भी उनके द्वारा व्यक्त करने का भाव इन्द्रियातीत ही होता है, और इसलिए उनके द्वारा प्राप्त होनेवाला आनन्द शुद्ध, निष्कलङ्क और स्थायी होता है। वह आनन्द शम-प्रधान होता है। वहाँ विलासिता का नाम तक नहीं होता। उस आनन्द में प्रवेश करने के बाद मनुष्य 'विगलितवेद्यांतर' हो जाता है। इस कला को आदर्शदर्शी (Idealistic) कहते हैं, क्योंकि इस कला के आदर्श में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। भारतवर्ष में इस आदर्श-दर्शी कला का ही प्राधान्य था। यहाँ यथार्थदर्शी कला थी ही नहीं, सो नहीं। मयासुर की कला यथार्थदर्शी थी। पर विश्वकर्मा की कला आदर्शदर्शी थी। यहाँ तो विश्वकर्मा की ही कला लोकमान्य हुई। कदा-

---

× सुख-दुःखात्मक नहीं, परन्तु शुद्ध आनन्द रूप।

† स्वतन्त्र, जो दूसरे पर आधार न रखे।

चित मयासुर की कला चीन देश से आने के कारण यहाँ न ठहरी हो, अथवा वह कला हमारी धार्मिक भावनाओं की पोषक न होने के कारण शायद लोगों के द्वारा उपेक्षित की गई। यह आदर्श-परायणता चित्रकला और सङ्गीत के अनुसार स्थापत्य में भी है; पूजा-अर्चा और जीवन-संस्कारों में भी है, साहित्य और रीति-रिवाजों में भी है। इसमें कला का उत्कर्ष है, परन्तु वह पराकाष्ठा नहीं। काष्ठा और परागति तो आत्म-प्राप्ति ही है।

आत्म-प्राप्ति में मनुष्य कलातीत होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'राज' ('राजा' नाटक) के अनुसार आत्मा न सुन्दर होता है, न कुरूप। वह तो सत्यरूप होता है। इसलिए जीव-रानी को यदि उसके साथ रममाण होना है तो उसे भी कलातीत हो जाना चाहिए। यही अभेद-भक्ति है, यही गर्भ-गृह में प्रवेश है, यही सायुज्य मुक्ति है। इसका न वर्णन हो सकता है, न सूचना दी जा सकती है। वह शब्दातीत है, वह अवर्णनीय है, वह निष्कल परब्रह्म है। आदर्शदर्शी कला हमें उस तरफ ले जाती है, उसका स्मरण कराती है, उसकी झाँकी देती है, उस तरफ जाने के लिए शक्तिमान् बनाती है। इसीलिए उस कला की उपासना प्रत्यक्ष परब्रह्म-प्राप्ति की साधना है। इसीसे पुराने शास्त्रकारों ने कहा है कि नादोपासना से ब्रह्म-प्राप्ति होती है। कला की सम्यक् उपासना-द्वारा मनुष्य कलातीत होता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस कला की उपासना योग से होती है। नाक पकड़कर श्वास को रोकना ही योग नहीं कहलाता। योग का अर्थ है समत्व। योग अर्थात् वासनाराहित्य, योग अर्थात् निर्विकारिता, योग अर्थात् संयम। योग अर्थात् ध्यान। योग अर्थात् तदाकारता।

इस योग का साधक ही आर्य-कला के रहस्य को समझ सकता है, उसका पुनरुज्जीवन कर सकता है, उसमें नवीन प्राण फूँक सकता है और उसके द्वारा समाज में नूतन युग उत्पन्न कर सकता है। कला का उदय भीतर से होना चाहिए। इसलिए आज कलाधरों को तपस्या-पूर्वक ध्यान करना चाहिए। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारा शरीर, समय और स्फूर्ति विलास के लिए अथवा विलासी जनों को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, वरन् अपनी कला-द्वारा जनार्दन की सेवा करने के लिए है।

नदीमुखेनैव समुद्रमाविशेत्

सुबह या शाम को जब हम नदी के तट पर जाकर शान्ति-पूर्वक बैठते हैं तो अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वहाँ बालू का विशाल पट प्रति दिन ज्यों का त्यों ही दीखता है, तथापि उसका प्रत्येक कण हवा और पानी से स्थान-भ्रष्ट होता रहता है। इतनी सब बालू कहाँ से आती है और जाती कहाँ है ? बालू के पट पर यदि हम चलते हैं तो बालू में स्पष्टतया अस्पष्ट पाद-चिह्न उठते हैं, पर घड़ी दो घड़ी के बाद हवा के कारण उनका 'नाम-निशान' भी नहीं रहता। दोनों किनारों के बीच नदी बहती है परन्तु वह किसी समय ठहरती नहीं। पानी आता है और जाता है, आता है, और जाता है। जब हम बच्चे थे तब सोचते थे "रात को यह नदी का पानी सो जाता होगा और सवेरे सबसे पहले उठकर फिर बहने लग जाता होगा। सूर्य, चन्द्र और ये नौ लाख तारे जिस प्रकार विश्राम लेने के लिए पश्चिम की ओर उतरते हैं, उसी प्रकार यह पानी भी रात में सो जाता होगा। विश्रान्ति की आवश्यकता तो सबको एक-सी है।" पर बाद में देखा कि नहीं, नदी को विश्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती। वह तो बहती ही रहती है।

नदी को देखकर ख़याल होता है,—'यह आती कहाँ से है और जाती कहाँ तक है ?' यह विचार—यह प्रश्न सनातन है।

नदी का आदि और अन्त तो होगा ही। जितनी बार नदी को देखते हैं उतनी ही बार यह प्रश्न मन में उठता है; और ज्यों-ज्यों यह प्रश्न पुराना होता है त्यों-त्यों वह अधिकाधिक गम्भीर, काव्य-मय और गूढ़ बनता जाता है। अन्त में दिल नहीं मानता, पाँव नहीं रुकते, मन एकाग्र हो जाता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अन्त खोजने की यह सनातन स्फूर्ति हमें नदी से मिलती है, और इसीसे हम जीवन-प्रवाह को भी नदी की उपमा देते आये हैं। उपनिषत्कार और देशी कवि, मैथ्यु आर्नोल्ड जैसे-कवि और रोम्याँ रोलाँ-जैसे विचारक जीवन को नदी ही की उपमा देते हैं। इस संसार की सब से पहली पथिक नदी है। इसीलिए पुराने लोगों ने नदी के उद्गम, संगम और मुख को अत्यन्त पवित्र माना है।

नदी कहाँ से आती है और कहाँ जाती है? शून्य से आती है और अनन्त में समा जाती है। शून्य अर्थात् अति अल्प, सूक्ष्म परन्तु प्रबल; और अनन्त अर्थात् शान्त और विशाल। शून्य और अनन्त दोनों एक-से गूढ़ हैं, दोनों अमर हैं। शून्य से अनन्त की ओर—यह सनातन लीला है। दोनों एक ही हैं। जैसे कौशल्या या देवकी के प्रेम में समाने के लिए परब्रह्म ने बाल-रूप धारण किया उसी तरह करुणावश अनन्त स्वयं शून्यरूप धारण कर हमारे सम्मुख खड़ा होता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों शून्य विकसित होता जाता है और जब अन्त में वह अपने विकास-वेग को सम्हाल नहीं सकता तो मर्यादा को तोड़कर अनन्त हो जाता है। वह बिन्दु का सिन्धु बन जाता है।

यही दशा मानव-जीवन की है। व्यक्ति से कुटुम्ब, कुटु-

म्ब से जाति, जाति से राष्ट्र, राष्ट्र से मानवता और मानवता से आत्मौपम्य में, इस तरह हृदय की भावनायें विकसित होती जाती हैं। हम अपनी भाषा-द्वारा स्वजनों का हृदय समझते हैं और अन्त में सम्पूर्ण विश्व का आकलन करते हैं। गाँवों से प्रान्त, प्रान्तों से देश, देशों से विश्व इस तरह 'स्व' का विकास करते-करते 'सर्व' में लीन हो जाना ही नदी और जीवन दोनों का क्रम है। नदी स्वधर्म-रत रहती है और अपनी मर्यादा को सुरक्षित रखती है। इसीसे प्रगति करती हुई अन्त में नाम और रूप का त्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती है। स्मरण रहे अस्त होती है, नष्ट नहीं। वह चलती ही रहती है। यह नदी का क्रम है। यही क्रम जीवन का है। जीवन-प्रद शिक्षा का दूसरा कौन-सा क्रम हो सकता है ?

वृत्त-विवेचन

(१)

यथार्थत: देखा जाय तो सम्पादक, शिक्षा-शास्त्री और धर्मोपदेशक इन तीनों का कार्य लगभग एक ही होता है। निद्रित प्रजा जब जागना चाहती है तब तो सम्पादक का कार्य असाधारणतया महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण हो जाता है। सम्पादक लोक-शिक्षण का आचार्य, ब्राह्मणों का ब्राह्मण, और चारणों का चारण है। जनता जब युयुत्सु बन जाती है तब सम्पादक को योद्धा और सेना-नायक भी बनना पड़ता है, और क्षात्र-धर्म का खूब विकास करना पड़ता है। जहाँ-कहीं अन्याय हो रहा हो, दीन, दुर्बल और मूक वर्गों पर जुल्म हो रहा हो, तहाँ-तहाँ वह अपने 'क्षतात्किल त्रायते' इस प्रतिज्ञा-वाक्य को स्मरण कर दौड़ पड़ता है। जब कहीं ऐसा प्रसङ्ग नहीं होता तब वह किसी एक जगह सुविचार, ज्ञान, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शों की प्याऊ लगाकर समाज-सेवा करता रहता है। अज्ञान अथवा अदूर-दृष्टि के कारण जहाँ लोग झगड़ते हों, वहाँ वह अपनी 'ज्ञानांजन शलाकया' उनकी दृष्टि को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। समाज-चक्र के पहिए जब एक राग को भूलकर चीत्कार करते हैं तब वह उचित स्थान पर स्नेह डालकर उस घर्षण-ध्वनि को शांत कर देता है! और जब कभी सरकार वग़ैरा से काम

पड़ता है तब वह जनता का प्रतिनिधि बनकर लोकमत को स्थिर और दृढ़ बनाकर लोक-शक्ति को सचेत कर देता है। इस तरह लोक-सेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोक-नायक और लोक-गुरु की चतुर्विध उपाधि अथवा पदवी का भाजन सम्पादक हो सकता है।

आजकल के वैश्य-युग में पत्र-सम्पादकों का एक बिलकुल जुदा ही आदर्श निर्माण होता जा रहा है और वह शिष्ट-सम्मत भी होता जा रहा है। "हमारे सामने धर्म की बात न कीजिए, हम तो केवल व्यवहार को जानते हैं; आदर्शों के तार-स्वर में लोगों को गाने के लिए न कहिएगा, मध्यम अथवा मन्द स्वर में जो गीत गाने योग्य हों वही गाने के लिए कहिए। हमसे साधुता अथवा वीरता की अपेक्षा न कीजिए। हानि-लाभ का हिसाब लगानेवाले कुटुम्बी को जो बातें पसन्द हों, अथवा फ़ायदेमन्द हों वही कहिए। वास्तव में संसार तो हमारा है। वीर और साधु तो समाज के लिए केवल शोभारूप हैं। वे तो पगड़ी के सिरों के जर के समान हैं, पगड़ी नहीं।" इस आदर्श को स्वीकार करनेवाले लोग कहते हैं कि सम्पादक को व्यर्थ ही अपने आदर्श को ऊँचा नहीं बना लेना चाहिए। उसका आदर्श तो यही होना चाहिए कि लोग जिस बात को माँगें वही उनको वह दे। हम जनता के विद्यागुरु नहीं जो उसे मार-पीटकर पढ़ावें। हम तो उसके ख़िद्मतगार हैं।

दुकानदार का आदर्श तो यही है कि ग्राहक जिस चीज़ को माँगे वह देकर उसे संतुष्ट कर दे। राजा जिस राग को पसंद करे वही गाकर राजा को प्रसन्न कर देना गायक का आदर्श है। लोग हमारे शिष्य नहीं, सेठ हैं। वह गुमाश्ता कैसा जो अपने

सेठ को ही पढ़ाना चाहे ? वह दुकनदार भी कैसा जो ग्राहकों को समय या धर्मशास्त्र का उपदेश देने लग जाय ?

जब यहाँ तक नौबत आती है तब इस दुकनदारी का ही ज्ञान आगे बढ़ता है। दुकानदार हमेशा इस बात का विचार नहीं करता कि ग्राहक को कैसा माल चाहिए। वह तो इस बात का विचार करता है कि अपने पास जो माल पड़ा हुआ है उसे किस तरह ऐसा बना लिया जाय जिससे ग्राहक उसे झट खरीद ले। ग्राहक को सेठ मानने के बजाय उसे वह अपना शिकार समझता है और संसार को नीचे की ओर ले जाता है। इस देश में भी कितने ही पत्रकार झगड़ों के दलाल बन गये हैं। उन्होंने झूठे गपोड़ों के कारखाने खोल रक्खे हैं। राष्ट्रीय आपत्ति और कौमी झगड़ों पर वे अपना व्यापार बढ़ाना चाहते हैं! लोकवार्ताओं में एक मुख्य बकवादी पात्र होता है। उसी प्रकार ये पत्र-संपादक समाज के महा पिशुन बने फिरते हे। शेक्सपियर के इयागो ने अथेलो और डेस्डेमोना की जो दशा कर डाली वही दशा वे इस सीधे-सादे राष्ट्र की करने पर उतारू हो गये हैं। फर्क सिर्फ यही है कि इयागो अपने पेशे का स्वरूप और परिणामों को ठीक-ठीक जानता था और जान-बूझ कर नीचता कर रहा था। सो दशा सब की नहीं है। ये अभागे भाई तो स्वयं भी विकारग्रस्त हो कर यादवस्थली के यादवों का अनुकरण कर रहे हैं।

संपादक की वृत्ति इतनी उच्छृङ्खल तो कदापि न होनी चाहिए कि जो कुछ भी खबर आई, उसे प्रकाशित कर दिया। खानदानी पुरुष के पेट में कई बातें भरी रहती हैं। पर कितनी ही बातों को वह जबान तक नहीं लाता। संपादक को कार्यानन्द ढूँढना

चाहिए वादानन्द नहीं। नहीं तो इनका लेखनीयुद्ध एकबार शुरू होते ही सारे संसार का संहार ही करके शांत होगा। इङ्गलैंड में जब हलचलों अथवा चर्चाओं का अकाल होता है तब एक-दूसरे पर अभद्र टीकायें करके ही वे अपना परस्पर जीवन-यापन करते हैं। भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वाश्वानवद् गुरगुरायते।

सौभाग्यवश गुजरात के समाचार-पत्र शायद ही कभी सज्जनता की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। गुजरात के पत्रकार सौम्य हैं, झगड़ालू नहीं। यह कहा जा सकता है कि वे झगड़ों से दूर हो रहना चाहते हैं। इसीलिए समाज एक प्रकार की बुराई से मुक्त है। पर यह कहना कठिन है कि यह वाद-विमुखता गुण-रूप ही है। जब सामाजिक उत्तरदायित्व पहचानने वाली प्रखर समालोचना का अभाव होता है तब राष्ट्रीय हलचलें और साहित्य के उद्यान में काँटों की झाड़ी वग़ैरा खूब बढ़ जाती हैं। प्रत्येक सुन्दर आदर्श की निर्जीव नक़लें होने लगती हैं। रविवर्मा के चित्र जिस तरह दियासलाई की डिब्बी पर चित्रित किये जा रहे हैं उसी प्रकार ख़राब-से-ख़राब नक़लें फैल कर असली चीज़ का गला घोंट कर उसे मार डालती है। तू मुझे 'कालिदास' कह, मैं तुझे 'भवभूति' कहूँगा। इस तरह 'अहो रूपम् अहो ध्वनिः' शुरू होता है, और समाज में आदर्श अपने स्थान को प्राप्त ही नहीं कर पाता। बस जहाँ देखिए तहाँ अल्पसंतोष। इसके कारण विचार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि और कार्य-शुद्धि तो दूर रही, रचना-शुद्धि तक की रक्षा नहीं होती। यों मतभेद के कारण उत्पन्न होनेवाली विविधता न तो अधिक होती और न बाधक ही होती है। पर आज तो जहाँ-तहाँ सब दूर अनवस्था ही है।

(२)

हमारे पत्र प्रायः समाचारपत्र ही होते हैं। जनता के लाभ का विचार कर समस्त संसार की खबरें छापना सम्पादक का सर्व-प्रथम कर्तव्य है। पर इस विषय में—और यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है—हमें दूसरों की आँखों से देखना पड़ता है। जिस तरह अंक केवल सरकार से ही प्राप्त हो सकते हैं उसी प्रकार खबरें भी केवल 'रूटर,' या 'असोशियेटेड' प्रेस से ही प्राप्त हो सकती हैं। वे हमें वे ही खबरें भेजते हैं, जो उनकी दृष्टि में महत्व रखती हैं और शनैः-शनैः वे अपनी यह दृष्टि भी हम पर लादते हैं कि किसी वस्तु को कितना महत्त्व दिया जाय। शिक्षा और साहित्य की तरह ×वृत्त-विवेचन (Journalism) में भी हम दूसरे के अनुयायी बन गये। इससे हमारे अन्दर जो दास-मनोवृत्ति—'परप्रत्ययनेय बुद्धि'—उत्पन्न हो गई है, वह अब-तक नहीं जाती। आज हमारे यहाँ अनेक पक्ष हो गये हैं और विचार-प्रगति भी रुक गई है इस में इस परप्रत्ययनेय के अवलंबन का हाथ कम नहीं है। और सब से आश्चर्य की बात तो यह कि दास-मनोवृत्ति के खिलाफ़ पुकार सभी मचा रहे हैं। वृत्त-विवेचन का आधार है प्रामाणिक-

---

× हिन्दी में इसके लिए पत्रकार-कला का प्रयोग होता है। इसके लिए ऐसे शब्द की आवश्यकता है जिसमें दैनिक से लेकर साप्ताहिक, त्रयमासिक तथा वार्षिक तक सभी पत्रों का और उनमें छपनेवाले अनेक समाचारों से लेकर गंभीर चर्चा तक का समावेश हो जाय। हमारे साहित्य में लोक-वृत्ति ही एक ऐसा पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है। इसमें प्रजा-जीवन के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। इसलिए (Journalism) को लोक-वृत्त-विवेचन अथवा संक्षेप में वृत्त-विवेचन कहा जा सकता है।

ख़बरें। उनका तन्त्र तो हमने खड़ा ही नहीं किया। अभी तो बुनियाद में ही परावलंबन है।

जब मैं अंग्रेज़ी पढ़ रहा था तब मैं चार आने वाला 'टाइम्स ऑव् इण्डिया' × पढ़ने का प्रयत्न करता था। उसमें भारत की सभी ख़बरें पढ़ने के बाद दिल में सवाल उठता 'क्या भारत में केवल अंग्रेज़ ही रहते हैं?' सरकारी अधिकारी और गोरों के सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन की ख़बरें ही अधिकतया उस में आतीं। मार-काट या दुर्घटना की कोई खबर आती तब मालूम होता कि इस सफ़ेद पट के नीचे काला समुद्र है। अंग्रेज़ी समाचार-पत्र अपनी दृष्टि से जिन ख़बरों को महत्वपूर्ण समझते हैं उन्हीं को छापते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्यकारक अथवा अनुचित बात नहीं है। यदि हम अपने जीवन का विकास करना चाहते हैं तो हमें भी ऐसी ही ख़बरें छापना चाहिए जो हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। बंगाली लोग कुछ-कुछ इस कला को जानने लगे हैं।

अपने वृत्त-विवेचन में हम अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी जनता का ही प्रायः विचार करते हैं। सरकार और उसके कार्य, विदेशों से व्यापार, अंग्रेजी शिक्षा, अदालतें, साहित्य-शास्त्रियों का साहित्य, और पढ़े-लिखे लोगों के सुख-दुःख यही हमारे वृत्त-विवेचन के मुख्य विषय होते हैं। भारत की जनता, भारत के उद्यम और कारीगर, किसानों का जीवन तथा देहात की दशा, धर्म-प्रचार, ग़रीबों का गृह-जीवन, पिछड़ी हुई जातियों की दयनीय जीवन-यापन-चेष्टा आदि राष्ट्रीय जीवन के प्रधान प्रश्नों को आवश्यक

× अब इस सचित्र साप्ताहिक का दाम छः आने है।

प्राधान्य हम देते ही नहीं। स्थानीय समाचार-पत्र का एक भी सुन्दर नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे संवाददाता देहात् में कभी जाते ही नहीं। सच्ची स्थिति तो यह होनी चाहिए कि प्रत्येक समाचार-पत्र देहात के रहने वालों में से कुछ जिम्मेदार सम्वाद-दाता ढूँढ़ लें। उनको उस कला में शान्तिपूर्वक तैयार करें, और प्रत्येक समाचार-पत्र ग्रामीण-जीवनकी चर्चा में दिलचस्पी ले। हमारी सभाओं में जिस तरह शहरवासी उच्चासन पर बैठते हैं और बिचारे ग्रामीण प्रतिनिधि अपने स्वाभाविक विनयानुसार दूर किसी कोने में अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार हमारे समाचार-पत्रों में भी लोक-जीवन के लिए कहीं एकाध कोना रहा तो रहा नहीं तो हरीच्छा। ग्रामवासी जब आत्मनिन्दा छोड़ कर अपने अन्दर स्वाभिमान और आत्मप्रत्यय का विकास करेंगे तभी यह स्थिति सुधरेगी। पर समाचार-पत्र इस काम का आ-रम्भ करके उनकी सहायता तो जरूर कर सकते हैं। रेलवे-कंपनी वाले भले ही तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की उपेक्षा करें पर समाचार-पत्र-सम्पादक उन देहातों की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं जहाँ उनके पत्र की फी सैकड़ा ४० प्रतियाँ बिकती हैं। प्रतिष्ठित और जिम्मेदार पत्र इसमें लापरवाही करेंगे तो उनकी कुशल भी नहीं है। प्रजा में अस्मिन्ता (आत्म-जागृति) आ रही है यह देखकर कितने ही त्वरित-दृष्टि सम्पादक अपढ़ वर्गों की खुशामद करके उनको मनमाने रास्ते पर ले जावेंगे और अपनी प्रतिष्ठा जमावेंगे तब सच्ची लोक-शक्ति के ये उत्तरदायित्व-शून्य नेता देश में कौन-कौन उत्पात नहीं खड़ा करेंगे? फलतः प्रतिष्ठित नेताओं को भी अन्त में ऐसे लोगों की बात माननी पड़ेगी और उनके साथ समझौता करना होगा। अज्ञान

जनता यदि उत्तरदायित्वशून्य लोगों के पीछे हो जाय तो कहना होगा कि हमारे आन्दोलन को मार गिराने के लिए सरकार के हाथ एक रामबाण उपाय लग गया। अंग्रेज-सरकार को लोक-मत से परिचित करने और इंग्लैंड की जनता में भारत की स्थिति के विषय में प्रचारान्दोलन करने में हमने जो एक जमाना गंवा दिया यदि उसे ही हम भारत की ग्राम-निवासी जनता को जागृत और शिक्षित करने में लगाते तो अबतक स्वराज्य में कभी के पहुँच जाते। सच्चे काम का आरंभ कष्ट-दायक और धीमा भले ही हो, प्रारंभिक मंदता असह्य भले ही हो, पर यों औसतन देखा जाय, तो मालूम होगा कि सच्चे काम ही जल्दी फूलते-फलते हैं। अब भी यदि हमारी आखें खुल जायँ तो देरी नहीं हुई है। किसान, जुलाहे, मजदूर, स्त्रियाँ और कारकुनों की स्थिति का महत्व समझ कर, उनकी दुर्दशा दूर करने के लिए, उनको सुरक्षित करने के खयाल से, उनकी समस्याओं पर विचार करने का व्रत सम्पादकों को ले लेना चाहिए। समाज-सुधार और धर्म-संस्करण—जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर भी हमने अबतक मध्यमवर्ग को खयाल में रखकर ही विवेचन किया है।

सम्पादक ज्यों-ज्यों ग्रामीण-जीवन के विषय में अपने पत्रों में अधिकाधिक चर्चा चलावेंगे, त्यों-त्यों, प्रचारक, उपदेशक, नेता और विचारक लोग देहात में भ्रमण करना अपना धर्म समझने लगेंगे। पर इसके लिए सम्पादकों के लेख स्थानीयता के रंग से रंगे हुए होने चाहिए। स्थानीय अध्ययन और स्थानीय भाव उनमें पूरा-पूरा होना जरूरी है। सम्पादकीय सिंहासन पर बैठकर गोल-मोल सर्व-सामान्य सिद्धान्तों पर लेख लिखने से काम नहीं चलेगा।

यदि ठीक पूरी तैयारी के साथ इस काम को किया जाय तो इसमें कभी कोई घटी नहीं उठावेगा। कितने ही संपादकों ने लोगों को खुश करने वाले और बोधशून्य मनोरंजन करने वाले लेख लिख-लिखकर जनता की अभिरुचि को बिगाड़ रक्खा है। अन्यथा अपने हिताहित की दिलचस्पी के साथ चर्चा और विचार करने वाले वृत्त-विवेचन को जनता अवश्य ही पूरी कीमत देकर खरीदती। सम्पादक समाचारपत्र-सम्पादन को अपनी जेब गरम करने का पेशा तो कदापि न बनावें। इन्साफ़ के लिए, धर्म के लिए, लोक-कल्याण के लिए कभी-कभी सम्पादकों को लोकमत के विरुद्ध भी जाना पड़ता है। परकीय अत्याचार का वर्णन और निषेध लोकप्रिय हो सकता है पर जब हम सामाजिक अन्याय और कुरीतियों का विरोध करते हैं, तब लोग चिढ़ जाते हैं। खुशामद के आदी पाठक और लेखक ऐसा वीर कर्म करने ही क्यों चले? किसी महाअन्याय के विरुद्ध अभिमन्यु-जैसा कोई वीर अकेले हाथों लड़ रहा हो तो पत्रकारों को उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। कई बार एक प्रतिष्ठित वर्ग प्रतिष्ठा-रहित किन्तु सुयोग्य पुरुष को दबाने का खूब प्रयत्न करता है। सम्पादक यदि निर्भीक हो तो प्रतिष्ठित वर्ग का बहिष्कार कर उसकी योग्यता की कदर करता है।

जो बात व्यक्ति के विषय में ठीक है वही संस्था के विषय में कही जा सकती है। अतः सम्पादक का यह भी कर्तव्य है कि वह देश की सच्ची सेवा करने वाली संस्थाओं के स्वरूप को पहचान कर उनका परिचय लोगों को करावे तथा उन पर कड़ी नजर रक्खे जिससे वे काहिल न बन जायँ। वृत्त-विवेचन के सभी

कर्तव्य इसी एक बात में समाविष्ट हो जाते हैं कि देश में जहाँ-कहीं सार्वजनिक प्रत्यक्ष कार्य हो रहा हो उसकी सहायता करें। वृत्त-विवेचन यदि अपने कर्तव्य ठीक-ठीक अदा करता चला जाय तो उसकी शक्ति इतनी बढ़ सकती है कि जिस प्रकार सरकार और विद्यापीठ योग्यता की उपाधियाँ वितरण करते हैं वैसे ही वह भी करने लग जाय। और फिर इस लोकमान्यता के सामने राजधन्यता एक तुच्छ वस्तु हो जाय।

किसी भी विशाल और नवीन प्रश्न को हाथों में लेना हो तो पहले मासिक पत्र उसका विवेचन करें, उसके बाद साप्ताहिक पत्र। ठीक क्रम तो यही है। ऐसा करने से विषय ग़लत रास्ते पर नहीं जाता और काम भी नहीं बिगड़ता। दैनिक पत्र तो प्रचलित हलचल पर ही लिखें। यह मर्यादा आवश्यक है। हमारे यहाँ दैनिक पत्रों का सम्पादक-मंडल विशाल नहीं होता। कई बार राजा, मंत्री और सेना-नायक सभी एक ही होता है। फिर नित्य नवीन लेख तो पैदा करना ही चाहिए। इस दशा में समाज को यदि अपक्व विचार परोसे जायँ तो हलचल को हानि पहुँचना अवश्यम्भावी है। हमारे यहाँ के विद्या-व्यासंगी लोगों ने पत्रों को नियमित रूप से सहायता करने की प्रथा अभी शुरू ही नहीं की। प्रत्येक पत्र के लिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखनेवाले विद्वानों का एक विशाल मण्डल हो, जो निरपेक्ष भाव से हमेशा उसकी सेवा करता रहे। तभी हमारा वृत्त-विवेचन समृद्ध हो सकता है। भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु एण्ड्रयूज़-जैसे व्यक्ति अनेक पत्रों की सहायता करते थे और अब भी कर रहे हैं। उसी प्रकार हमारे पास ऐसे कई और विद्वान् हैं, जिनके नामों का उल्लेख किया जा सकता है

कितने ही अपने लेखों के द्वारा सहायता तो करते ही हैं। पर इतनी दिलचस्पी लेने वाले लोग तो बहुत थोड़े हैं, जो सूचनायें भी करते रहें।

इस आक्षेप के विषय में यह एक दलील पेश की जा सकती है कि सम्पादकों में इतना विनय कहाँ है जो वे बुजुर्गों के बचनों का सम्मान करें जो हम उन्हें अपनी सलाह दें? सच देखा जाय तो सलाहकार आग्रही सास बनना चाहें तो इससे भी काम नहीं चल सकता। इधर सम्पादकों का पण्डितमन्य होना भी अक्षम्य है। हमारे सामाजिक जीवन की तरह सार्वजनिक जीवन भी बिगड़ गया है। संघ-शक्ति से काम करने के नियम अभी तक हमारे गले नहीं उतरे। नीति के बंधन शिथिल करने, अभिरुचि के आदर्श को नीचे घसीटने, और हर प्रकार के स्वच्छन्द को रूढ़ करने में अभी तक समाचारपत्रों ने किसी बात को नहीं उठा रक्खा है। जहाँ देखिए तहाँ नये पत्र शुरू होते हैं। थोड़ी देर जीवन-संघर्ष में झगड़ते हैं और ग्रेज्यूएट के विद्या-व्यासंग की भाँति थोड़े ही दिनों में अस्त हो जाते हैं! स्वतन्त्र मौलिक कल्पनाओं का तो अकाल हुई है। फिर भी प्रतिभा का दावा करने वाला आडम्बर-युक्त साहित्य इतना बढ़ गया है कि 'साहित्य-संरक्षक मण्डल' स्थापन करने का समय आ पहुँचा है।

(३)

सम्पादक दो प्रकार के होते हैं। कितने ही अपने पत्र-द्वारा साहित्य की जितनी सेवा होती है उसी में संतोष मान लेते हैं। स्व० मोतीलाल घोष, रामानन्द चट्टोपाध्याय और नटराजन इस वर्ग के नमूने हैं। अन्य प्रत्यक्ष देशकार्य करते समय अपने विचार प्रकट

करने के लिए पत्र चलाते हैं। गाँधीजी, देश-बन्धु, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक ये इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं। पहले वर्ग के सम्पादक विविधता के उपासक होते हैं। प्रत्येक का कोई खास विषय तो होता ही है पर उसके अतिरिक्त भी वे सर्वांगी विचार-प्रचार के हिमायती होते हैं। दूसरे वर्ग के सम्पादक स्वयं कार्य-परायण होने के कारण एकाग्रता लाने की शक्ति-भर कोशिश करते हैं। दोनों का उपयोग है। पर इन दोनों आदर्शों को मिला देना उचित नहीं है। यदि पहले वर्ग के सम्पादक चाहें तो अपने पत्र को संस्कृति का केन्द्र बनाकर एक बन्धु-समाज तैयार कर सकते हैं। प्राचीन समय में मंदिरों का जो स्थान था वही स्थान आधुनिक पत्र प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के सम्पादक निश्चल देश-सेवकों की एक विशेष सेना तैयार कर सकते हैं।

सम्पादकों का एक तीसरा वर्ग भी है। उसका काम है तनख्वाह लेकर हर किसी मत का प्रचार करना। अमेरिकन निग्रो लोगों की एक पाठशाला में लड़कों के पालकों ने शिक्षक से पूछा "पृथ्वी गोलाकार है ऐसा आप बच्चों को पढ़ाते हैं या चौरस ?" उसने उत्तर दिया—इस बात में मेरा कोई आग्रह नहीं है। आपकी टाउन कौन्सिल बहुमत से जो निश्चित कर देगी वही पढ़ाने के लिए मैं तैयार हूँ। ऐसे लोगों के हाथ से क्या समाज-सेवा होती होगी सो विधाता ही जाने।

पत्रकारों के अतिरिक्त एक और भी नये वर्ग की समाज में आवश्यकता है। अपने-अपने क्षेत्र में जो-जो प्रवृत्ति चल रही हो, साहित्य प्रकट हो रहा हो, नवीन आविष्कार हुए हों, निर्णय हुए

हों, वाद उत्पन्न हुए हों, नवीन-नवीन नमूने बनाये गये हों, उन सब का वार्षिक संग्रह करने का काम भी किसी को शुरू कर देना चाहिए। सामाजिक जीवन में ऐसे कितने ही उपांग हैं, जिनके लिए साप्ताहिक तो क्या मासिक भी नहीं चलाये जा सकते। तथापि यदि यहाँ-वहाँ किसी पत्र में उस विषय पर कुछ खबरें या सामग्री छपे और वह जहाँ-तहाँ बिखरी हुई यों ही व्यर्थ पड़ी रहे सो ठीक नहीं। इन बातों का वार्षिक वृत्त प्रकाशित करने वाला यदि कोई हो तो लेखक-वर्ग उसीके पास अपनी सामग्री भेज दिया करें।

हमारे यहाँ एक ऐसे मासिक की भी जरूरत है जो सभी नये-पुराने ग्रन्थों का संक्षेप में परिचय कराता रहे। यह मासिक विद्यार्थी और सामान्य जनता के लिए बड़ा ही उपयोगी साबित होगा। साहित्य का इतिहास लिखने में तो इसका अमूल्य उपयोग हो सकता है। मेजिनी की साहित्य-सेवा का आरंभ ऐसे ही प्रयत्न से हुआ था। ऐसे मासिकों में केवल एक भाषा के साहित्य का ही परिचय न हो। हाँ, किसी एक भाषा के साहित्य को प्रधानता दे कर भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य को भी यथावकाश स्थान अवश्य ही दिया जाय।

सामान्यतः पाठक यदि समाचार-पत्र और मासिकों को छोड़कर और कोई चीज़ पढ़ते हैं तो केवल उपन्यास। जब तक उनकी यह स्थिति रहेगी तब तक कम-से-कम लोक-शिक्षा की दृष्टि से सारे संसार की जानकारी उसके पूर्वापर सम्बन्ध के साथ पाठकों को देने की व्यवस्था भी कर देना अत्यावश्यक है। संसार कहाँ-कहाँ तक फैला हुआ है, कहाँ क्या हो रहा है, प्रत्येक

देश की दशा और दुःख क्या है, और कहाँ तक संसार की प्रगति हुई है,इसकी जानकारी हमारे पाठकों को रहना परमावश्यक है। इसमें भी हम अधिकांश में तो परावलंबी ही रहेंगे। पर यह अपरिहार्य है। इसलिए हमारी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का प्रभाव और महत्त्व निश्चित करके लोक-शिक्षा का काम तो हम को शुरू कर ही देना चाहिए।

तीस करोड़ गुलामों के देश में हमारा वृत्त-विवेचन अधिकांश में अंग्रेजी में ही चल रहा है। समर्थ लेखक अंग्रेजी की तरफ ही दौड़ते हैं। यह कितनी लज्जा की बात है कि जिसके लिए यह सब प्रयास हो रहा है उसे इस तमाम प्रयास के फल से वंचित रहना पड़ता है। किसी का ध्यान इस बात की तरफ आकर्षित नहीं होता। यदि बलात् आकर्षित किया भी जाता है तो जँचती नहीं। इससे भी कहीं अधिक लज्जास्पद दशा हो सकती है?

देशी भाषाओं में जितने समाचार-पत्र प्रकाशित हो रहे हैं उनमें ऐसे बहुत कम हैं जो पूरी तैयारी के साथ प्रकाशित हो रहे हैं। सम्पादकों के लिए जिन बातों को जानना जरूरी है ऐसी बातों से भरी हुई एक भी किताब हमारी भाषाओं में नहीं दिखाई देती। 'इण्डियन इयर बुक', 'ऐन्यूअल रजिस्टर', 'हू इज हू', 'पियर्स सायक्लोपीडिया', 'कमर्शियल ऐटलास' 'हैंडबुक ऑव् कमर्शियल इन्फरमेशन'-जैसी सर्वोपयोगी सादी किताबें तक हमारी देशी भाषाओं में तैयार नहीं हुई। इसलिए तथा अध्ययन के अभाव के कारण देशी भाषाओं के पत्र अंग्रेजी समाचार-पत्रों के निरे स्याहीचट बन गये हैं।

जहाँ इतनी भी प्राथमिक तैयारी नहीं है, वहाँ फलां विषय

पर या फलां बिना पर अधिकारयुक्त जानकारी प्राप्त करने के लिए सम्वाददाता भेजने तथा समाचार-पत्रों की ओर से जाँच-समितियाँ नियुक्त करने की बात भी कैसे की जा सकती है ?

वृत्त-विवेचन पर जीने वाला तथा उसका पोषण करने की डींग हाँकने वाला एक महारोग है—विज्ञापनबाजी। सार्वजनिक नीति को कलुषित करने वाली तथा कौटुम्बिक अर्थ-शास्त्र पर भीषण चोट पहुँचाने वाली यह बुराई इतनी फैल गई है कि गांधीजी के 'नवजीवन'-द्वारा उसका इतना सख्त और सक्रिय विरोध होने पर भी अन्य पत्रों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं दृष्टिगोचर होता। समाचार-पत्रों में हीन विज्ञापनों को देखकर दिल में विचार होता है कि परमात्मा की सेवा के लिए एक उत्तम देवालय बाँध कर उसका खर्च चलाने के लिए यदि उसके अहाते के कमरे शराब और वेश्याओं की दूकानों के लिए किराये पर उठा दिये जायं तो ठीक होगा ?

(४)

सम्पादन-कला अथवा वृत्त-विवेचन हमारे यहाँ यूरोप से आया है। जबतक बालक स्वयं चरित्र-गठन और आदर्शों का निर्माण नहीं कर पाते तब तक जिस तरह वे अपने माता-पिता का ही अनुकरण करते हैं, ठीक उसी तरह हमने भी अबतक यूरोप के 'जर्नलिज्म' का अनुकरण किया है। अमेरिकन ढंग अख्तियार करने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। क्या अभी अनुकरण का जमाना समाप्त नहीं हुआ ? क्या अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करने योग्य हमारे राष्ट्र के पास कुछ है ही नहीं ? यदि हमारे पास सांस्कारिक व्यक्तित्व हो, यदि हम में अस्मिता जागृत हो गई हो, तो

उसे पहचानने, विकास करने और प्रकट करने का समय क्या अबतक नहीं आया? हमारा प्रश्न केवल राजनैतिक नहीं है। यदि केवल राजनैतिक होता तो हमने कभी का उसे हल कर लिया होता। जिस प्रकार संसार के सभी धर्म इस देश में इकट्ठे हुए हैं उसी प्रकार संसार के सभी जटिल प्रश्न भी यहाँ एकत्र होना चाहते हैं—हो गये हैं। जो कुछ रह गये होंगे वे भी आ मिलेंगे। जब चारों तरफ से पानी का प्रवाह दौड़ता आता है तब लोग अपने को बचाने के लिए किसी ऊँचे टीले की ओर दौड़ते हैं। उसी प्रकार संसार के सभी सवाल—धर्म धर्म के बीच के, जाति जाति के बीच के सामाजिक, आर्थिक, शिक्षाविषयक—सभी इस देश में इकट्ठे हो गये हैं, और उनकी चर्चा करने की जिम्मेदारी संपादकों के सिर पर सवार हो गई है। सम्पादक अवश्य ही कोई भारी विचारक होता हो सो नहीं। तथापि उसका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक प्रश्न के स्वरूप और गंभीरता को वह ठीक-ठीक समझ ले, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ विचारकों ने उस पर जो उपाय बताये हों उनका सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करे, उसके बाद यथाशक्ति यथामति उस प्रश्न को देश के सामने पेश करे। हमारे जीवन, इतिहास, धर्म और समाज-रचना में जो कुछ उपयोगी हो उसे जाँचकर उसे भी संसार के सामने विचारार्थ पेश कर दे।

काम आसान नहीं है। दीर्घ वाचन से मनुष्य में विद्वत्ता आ जाती है। पर बिना शुद्ध और उच्च जीवन के दिव्य दृष्टि और अटल श्रद्धा नहीं मिलती। पर आज कल का जमाना ही ऐसा है कि प्रत्येक को यह कोशिश करनी चाहिए कि वह जितना ऊपर चढ़ सकता हो चढ़ जाय। शैतान ने आक्रमण शुरू कर

दिया है। उसे पराजित करने के लिए देव-सेना को तैयार हो जाना चाहिए। इस अवस्था में संपादक अपना स्थान कहाँ ग्रहण करेंगे यही विकट सवाल आज उनके सामने है।

कला शौक और मौज की चीज नहीं है। वह मनुष्य के स्वभाव का परिचय देती है। मनुष्य को अपने कार्य में और जीवन में कितना और कैसा आनन्द मिलता है इसका निर्णय उसकी कलाओं पर से होता है।

... ...

कला के मानी हैं प्रेम से, आनन्द से, और प्रसन्नता से किया हुआ काम। बिना प्रसन्नता के कला उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

... ...

मन्दिर, मसजिद और तालाब आदि पर से सम्पूर्ण समाज की संस्कृति का हमें पता चल जाता है।

... ...

किसी भी समाज की गृह-रचना देख कर उसकी मनोरचना को जान लेना बिलकुल आसान है।

... ...

मनुष्य भाषा द्वारा अपना हृदय छिपा सकता है, परन्तु कला में प्रतारणा (चालाकी) के लिए स्थान ही नहीं है

... ...

वाणी, तो विचार और भाव का परोक्ष वाहन है पर सङ्गीत और कला तो इनके प्रत्यक्ष सार्वभौम वाहन हैं।

... ...

वाणी, विचार की भाषा। कला, हृदय की भाषा। आचार, धार्मिकता की भाषा।

... ...

यही समझ लेना बड़ी भारी कला है कि मनुष्य को किस तरह जीना चाहिए।

... ...

मोक्ष प्राप्त कर लेना यह उच्चतम कला है। उच्च कला-द्वारा कलातीत होना हमारा ध्येय है।

... ...

एक लेखक ने कहा है, 'मुझे कविता करने की इजाज़त दे दीजिए, फिर आप भले ही क़ानून बनाइए।' इसी तरह यों भी कहा जा सकता है कि, 'लोगों की कला-विषयक अभिरुचि मेरे हाथों में सौंप दीजिए, फिर आप भले ही समाज को नीति के पाठ पढ़ाते रहिए।'

... ...

जिस तरह पैर में काँटा, धोती में चिटचिटा और दाँत में तिनका सहे नहीं जाते, उसी तरह भाषा में ग्राम्यता, (भद्दापन) हृदय में शङ्का और जीवन में कला-विहीनता अथवा नीरसता कदापि सहन न होनी चाहिए।

... ...

यदि हम इस बात को मानते हैं कि अनुचित रीति से बर्ताव करने में शिष्ट जनों की अप्रतिष्ठा होती है, तो हमें यह भी मानना चाहिए कि ऐसी वस्तुओं के रखने से भी कुटुम्ब और मेहमानों की अप्रतिष्ठा होती है, जो घर में न शोभती हों।

... ...

जिस तरह मनुष्य की पहिचान उसके बर्ताव से होती है उसी तरह बरतन-भांडे, कुर्सियाँ और चौकी आदि पर से भी होती है।

... ...

दीवान-खाने में कला-कौशल्य की चीजें और घर में एल्युमिनियम के मैले बरतन, सभा में जाते समय सुन्दर पोशाक और घर में तेली का वेष; बोलने में साधु की भाषा और हृदय में हलाहल विष; ये सभी अतृप्त जीवन के लक्षण हैं।

... ...

क्या जर्मनी के रङ्ग और इस्तरी के कपड़े काम में लेनेवाले समाज में कभी कोई कवि 'क्षौमं केनचिदिन्दुपांडु तरुणा ...' जैसा श्लोक लिख सकता है ?

... ...

किसी वस्तु को इसलिए मत काम में लाओ कि वह सुन्दर है। वरन् काम के लेने की वस्तु सुन्दर देखकर लो अथवा उसे सुन्दर बना लो।

... ...

जीवन में निर्धनता से दुःख या हानि नहीं, परन्तु नीरसता का सहन होना यही महा हानि है।

... ...

कुरुचि के सम्मुख हुल्लड़ मचाने से केवल हमारी कुरुचि प्रकट होती है। स्वारस्य तो इसी में है कि हम स्वयं सुरुचि का पाठ पढ़ाना शुरू कर दें। संसार में कुरुचि इसीलिए रह सकती है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य थोड़ा-बहुत डरता है।

... ...

सहिष्णुता और कायरता इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना समाधि और मृत्यु के बीच है। दोनों में समानता केवल बाहर से ही दीखती है।

... ...

बहुतेरे कवि फूल में भी मानवी भावना देख सकते हैं तो कितने ही कवि मनुष्य में फूल का सौन्दर्य देखते हैं।

... ...

कला की उपासना में अहङ्कार का लय करना कला का एक महान् आनन्द है—† विगलितवेद्यान्तरं परमानन्दम्।

... ...

परिचित वस्तु को देखकर होनेवाला आनन्द तो सच्चा आनन्द है। अपरिचितपन—विचित्रता का आनन्द प्रौढ़ नहीं होता, चिरस्थायी नहीं होता।

... ...

जैसे कविता के लिए छन्द (वृत्त) है वैसे ही कला के लिए शिष्ट-सङ्केत।

... ...

क्या जीवन में और क्या कला में, अनुकरण मृत्यु के समान ही है।

... ...

बिना उपासना के किसी कला को अवगत या हस्तगत करने की आशा करना व्यर्थ है।

... ...

कला कहीं अनायास प्राप्त होनेवाली चीज़ नहीं है। उसके लिए तपस्या करनी चाहिए, और पवित्रता के साथ उसकी उपासना करनी चाहिए।

---

† जिसमें और कुछ भी जानना बाक़ी न रह जाय, वही महान् आनन्द है।

श्रद्धा और शुश्रूषा बिना कला का रहस्य समझना और अनुभव करना अशक्य है।

... ...

सौन्दर्योपासना और विलास में स्वर्ग और नरक जितना अन्तर है।

... ...

जिस तरह मोक्ष के मार्ग में सिद्धि विघ्न-रूप है, उसी तरह कला की प्राप्ति में विलासिता है।

... ...

मरोड़दार अक्षर बनाने की कला नष्टप्राय हो गई है। दुःख है कि इस यान्त्रिक युग में समाज की एक-एक कला का नाश होता जा रहा है।

... ...

कविता और चित्र में भी केवल भाव से काम नहीं चल सकता, बोध भी होना ही चाहिए।

... ...

नीति-शिक्षण और कला का शिक्षण आरम्भ में बचपन से देना इष्ट और हितकारी है। और वह कृति-द्वारा परिपूर्ण होना चाहिए। उनके तत्त्व पीछे से धीरे-धीरे आप-ही-आप प्रकट होते हैं अथवा प्रकट किये जा सकते हैं।

... ...

जिस तरह पिता कन्या का कन्यादान करने तक प्रेम-पूर्वक पालन-पोषण करता है और उसे दे देने के बाद भी उसके भविष्य की चिन्ता रखता है, उस तरह कलाधर को कलायुक्त वस्तु का निर्माण करके जबतक वह योग्य मनुष्य के हाथ में नहीं सौंपी जाती तबतक उसकी रक्षा तो करनी ही चाहिए, पर इसके बाद

भी उसे उस वस्तु की चिन्ता करनी चाहिए। कलाधर और उस की कृति का सम्बन्ध दूकानदार और ग्राहक का न होना चाहिए।

... ...

यदि कलाधर कलाद्वारा योग-क्षेम (अन्न-वस्त्र) की इच्छा करे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु कला को बेचकर धनवान् होने का प्रयत्न करना निन्दनीय है।

... ...

कलाधर को किसी का नौकर न बनना चाहिए।

... ...

जिनका जीवन परस्पर ओत-प्रोत है उन्हीं के साथ सहयोग धर्म-सङ्गत और इष्ट है। दूसरी तरह का सहकार प्राण-घातक है। कला के विषय में यह अक्षरशः सत्य है।

... ...

क्या समाज की उन्नति या अवनति इस पर निर्भर नहीं है कि श्रेय और प्रेय के झगड़े के बीच हमारे समाज-नेता या कलाधर अपनी शक्ति को किस ओर लगाते हैं?

... ...

कलाधर और कारीगर इन दोनों को विभक्त न करो। यदि वैसा करोगे तो कलाधर की कला विकसित न हो पावेगी और कारीगर की कुशलता का लय हो जायगा।

... ...

चित्रकार, शिल्पकार, गायक अथवा कवि को पुरस्कार-मात्र दे देने से कला की उन्नति नहीं होगी। समाज को चाहिए कि वह कला को अपने हृदय में, कुटुम्ब में, समाज में और मन्दिर में स्थान दे। अपने जीवन में कला की प्रतिष्ठा कीजिए तो कलाधर आप ही उत्पन्न होने लगेंगे।

सच्चा कलाधर कला का सञ्चारक (मिशनरी) होता है। कञ्जूस बनकर योग्य मनुष्य से वह कुछ भी छिपाये नहीं रखता।

... ...

कलाकार मानता है कि दृश्य सृष्टि भासमान है। पर आदर्श-सृष्टि—ध्येय-सृष्टि—सत्य है। तत्त्वज्ञान भी यही कहता आया है।

... ...

कल्पना-तरंग दो प्रकार के हैं। प्राणवान् और हत-प्राण अथवा अल्पप्राण। कवि अथवा चित्रकार पवित्र हो तो प्राणवान् भावनायें उसके हृदय में प्रवेश करती हैं, प्राणवान् विचारों के फव्वारे उसकी क़लम में से या कूँची में से उड़ने लगते हैं, और समाज चैतन्य से हिलने लगता है। यदि चित्रकार या कवि विलासी होगा तो समाज को हतप्राण कल्पनाओं का नशा चढ़ जायगा और समाज विषैला बन जायगा। और यदि कवि या चित्रकार स्वयं ही अल्पप्राण होगा तो उसकी निर्माल्य कविता अथवा कृति उसी जगह मरण-शरण हो जायगी।

... ...

प्रकृति इन्द्रियातीत आनन्द का विषयोपभोग-द्वारा अनुभव करने का प्रयत्न करती है। कला इन्द्रियातीत आनन्द को विषय-वासना से दूषित न करके उसे शुद्ध स्वरूप में अनुभव करने का प्रयत्न करती है।

... ...

यथार्थदर्शी कला,कला ही नहीं कही जा सकती। विषय-मुग्ध होकर जो विलास एकान्त में किया जाता है यदि वही सर्वसाधारण से प्रकट में होने लगे तो जितनी लज्जा आती है, उतनी ही लज्जा यथार्थदर्शी कला को देखने में आनी चाहिए। जिस चित्र को

देखने से मन में उपभोग के विषय की कल्पना आती है वह अप-वित्र है। ऐसे चित्र कुछ वर्ष पहले रजवाड़ों के अन्तःपुरों में भी नहीं टाँगे जाते थे। संयम-विमुख पाश्चात्य कल्पना के कारण आजकल ऐसे चित्र प्रतिष्ठित गृहस्थों के दीवानखानों में भी दिखाई देने लगे हैं! इससे बढ़कर अधःपात का दूसरा संगीन प्रमाण क्या हो सकता है?

... ...

अरे, यह संसार या तो परदानशीन हो गया है या नाटकी बन गया है? जिसको देखो वही बुरका पहन कर या वेश बदलकर घूमता हुआ दिखाई देता है। मानों हर किसी को सत्य की लाज आती है। इनकी भाषा देखिए, इनकी रीति-भांति देखिए, इनके उत्सव देखिए, इनकी पोशाक देखिए या इनके दीवानखाने देखिए—सत्य तो कहीं खोजने पर भी नहीं मिलता। आज तो सत्य केवल ढँक ही गया है। परन्तु शीघ्र ही वह तो दम घुटकर भी मर जायगा। दौड़ो रे, दौड़ो, कोई सत्य की रक्षा करो!

सत्य-निर्णय

सत्य-निर्णय

संसार में अनादि काल से सत्यान्वेषण का काम चला आया है! यह तो मनुष्य ने जान लिया कि सत्य यही परम धर्म है। परन्तु सत्य क्या है, यह अभी उतना प्रकट नहीं हुआ और इसी से संसार का व्यवहार सशङ्क और भयावह बन गया है। ईश्वर का रूप कैसा है, हज़ार-दो हज़ार वर्ष तक अगर इस बात का अन्तिम निर्णय न भी हो तो काम चल सकता है। परन्तु सत्य का स्वरूप निश्चित किये बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। क़दम-क़दम पर हमें सत्य का निर्णय करना पड़ता है। मनुष्य अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ तो अकेला ईश्वर ही है। अतः परम सत्य क्या है, यह तो केवल ईश्वर ही जाने। तथापि सत्य के सम्बन्ध में हमें जितना और जैसा साक्षात्कार हुआ है, उसी के आधार पर हमें अपना व्यवहार चलाना पड़ता है। श्रद्धा कहती है, परम सत्य—एक मात्र सत्य-जरूर कहीं न कहीं होगा, अनुभव कहता है, हरएक मनुष्य को अपने को सूझी हुई वस्तु ही सच्ची मालूम होती है। अतः सत्य में प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार विविधता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि वासना सत्य के वास्तविक स्वरूप को ढँक देती है, और मोह के कारण हम उसका दर्शन नहीं कर सकते। किन्तु हम जिन्हें वीतराग और स्थितप्रज्ञ गिनते हैं उनमें भी तत्त्व-विषयक मत-भेद

देखकर सत्यान्वेषण के सम्बन्ध में निराशा उत्पन्न होती है। तथापि सत्यान्वेषण की यात्रा किसी क्षण भी बन्द नहीं होगी, क्योंकि वही जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश्य है।

सत्यान्वेषण जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश्य होने के कारण हम अपनी जीवन-विषयक कल्पना के अनुसार सत्य का निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग बाह्य जीवन को अधिक महत्व देते हैं, तो बहुतेरे अन्तर-वृत्ति को। कितने ही सामाजिक निर्णय को ही प्रमाण मानते हैं, तहाँ दूसरे कितने ही लोग व्यक्तिगत अन्तःस्फूर्ति को सर्वोपरि मानते हैं। इन दोनों में से कौनसा पक्ष श्रेष्ठ है यह अभी निश्चित नहीं हुआ किन्तु जिस दिन वह निश्चित हो जायगा उसी दिन परम सत्य की खोज भी हो जायगी।

इस भेद के अनुसार अन्तःस्फूर्ति को अधिक महत्व देनेवाले मनुष्य कहते हैं, कि हरएक व्यक्ति को निष्पक्षता से जो सत्य लगता है, वही उसके लिये सत्य है। सारा संसार एक ओर हो और वह अकेला दूसरी ओर रहे तो भी वह अपनेको जो बात सत्य मालूम हो उसी को पकड़े रहे; सत्य कभी धोखा नहीं देता। दूसरा पक्ष कहता है कि हरएक मनुष्य—हरएक व्यक्ति कितना अल्पज्ञ होता है? उसका अनुभव इतना मर्यादित होता है कि व्यक्ति की सत्य-विषयक कल्पना पर आधार रखना मिथ्याभिमान है। यह जगत् सत्य है, इस जगत् का व्यापार सत्य है, हमारी क्षणिक कल्पना असत्य है। व्यक्ति मरणाधीन है, पर समाज उसकी तुलना में अमर है। व्यक्ति मोहावृत है, उसकी अपेक्षा समाज अधिक योगयुक्त रहता है। इसीसे तो संसार का व्यवहार पंचों के निर्णय—द्वारा चलाया जाता है। आप कहते हैं कि सत्य परम मङ्गल है। यदि

यह बात सच्ची हो तो आपको यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो परम मङ्गल है वह सत्य है। हम इस सिद्धान्त को मानते हैं इसीलिए जगद्गुरु ने कहा है :—

यद् भूतहितमत्यन्त तत्सत्यमिति नः श्रुतम्।

इस जगह जगद्गुरु ने 'इति मे मतिः' नहीं कहा। 'नःश्रुतम्' हमने पूर्वाचार्यों से सुना है; अर्थात् कहने और सुनने वाले अनेक हैं। सत्य की व्याख्या करने का अधिकार भी समाज ही को है, ऐसा जगद्गुरु ने 'नः श्रुतम्' कह कर स्पष्ट कर दिया है। प्राणिमात्र का आत्यन्तिक कल्याण जिससे हो वही सत्य है। हमें नहीं मालूम होता कि, इस व्याख्या पर कोई आक्षेप कर सकेगा। परम माङ्गलिक, सर्वभूतहितकर सत्य का निर्णय दूसरी तरह किया ही नहीं जा सकता। आज हमारा प्राणिमात्र के साथ समभाव न हो। जिस हद तक मनुष्य में प्रेम-वृत्ति का विकास हुआ होगा, उसी हद तक वह भूत-हित का व्यापक अर्थ भी कर सकता है और उसी परिमाण में उसे सत्य का स्थूल या सूक्ष्म साक्षात्कार भी हो सकता है। बहुतेरे लोगों के खयाल में कुटुम्ब-हित में ही भूतहित है। इससे ऊँची श्रेणी के मनुष्यों के खयाल में मनुष्य-जाति, सम्प्रदाय अथवा राष्ट्र-हित ही क्रमशःसम्पूर्ण भूत-हित है। आज सर्वोच्च कोटि के मनुष्यों में भी भूतहित के मानी मनुष्य-हित ही किया जाता है। मालूम होता है कि निष्पाप जीवन बिताने के लिए शहद और तीड़ पर अपनी आजीविका चलाने वाले, बाइबिल में वर्णित साधु भी मनुष्य-हित को ही भूत-हित मानते थे। जिस प्रकार भूतहित-विषयक यथार्थ ज्ञान क्रमशः प्राप्त होता है उसी प्रकार 'अत्यन्त' शब्द का भाव भी क्रमशः स्पष्ट

होता है। आज क्षुद्र स्वार्थ के लिए, क्षणिक लाभ के लिए राष्ट्र की हानि करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा देश-हित के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाले व्यक्ति 'अत्यन्तम्' का अर्थ अधिक जानते हैं। उसी प्रकार न्याय—अन्याय का बिना किसी तरह विचार किये राष्ट्रोपासना करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा मानव-कोटि का हित-संचय करने के लिए केवल परम-धर्म का ही अवलंबन करनेवाले मैज़िनो, टॉल्स्टॉय या गाँधी-जैसे महात्मा 'अत्यन्तम्' का अर्थ और भी अधिक जानते हैं। इस तरह ज्यों-ज्यों समाज में भूत-हित और अनन्त काल का साक्षात्कार बढ़ता जायगा त्यों-त्यों सत्य का दर्शन अधिकाधिक स्पष्ट होगा।

इस तरह सत्य को कसौटी दो रीति से होती है; व्यक्तिगत धर्म-बुद्धि (Individual Conscience) द्वारा अथवा समाज-बुद्धि (Social Conscience)-निर्णीत आत्यन्तिक कल्याण की कल्पना-द्वारा। दोनों निर्णयों में भय तो अवश्य ही है। और इसीलिए उनमें से प्रत्येक पक्ष के समर्थकों ने उसके लिए एक-एक उतार भी बताया है। अन्तःकरण-प्रवृत्ति की पूजा करने वाला सम्पूर्ण संसार पर अत्याचार कर सकता है उसके आत्मविश्वास में अहङ्कार भी हो सकता है। ऐसे मनुष्य का संग्रह करने से समाज-सुरक्षित भी न रहे। दूसरी ओर यह ख़तरा है कि समाज—निर्णय को धर्म-पद देने वाला कहीं प्रगति का विरोधी और रूढ़ि का दास न बन जाय। इसके साथ लड़लड़ के ही सत्य को अपना रास्ता साफ़ करना पड़ता है। समाज-निर्णय का संमान करने में विनय अवश्य है, पर उसमें आत्मिक विकास के लिए अनुकूलता नहीं।

इन त्रुटियों के कम करने के उपाय भी देखने चाहिए। अंतः-कारण-प्रवृत्ति का पूजक अपने हाथ में सत्ता या ऐश्वर्य लेने में हिचकता है। किसी तरह का भी अधिकार हाथ में न ले यही उसका अभिधर्म है। यदि वह इस धर्म का पालन न करेगा, तो वह अपनी उन्नति में अपने हाथों विघ्न खड़े कर समाज के लिए असह्य हो जायगा। इसलिए उसे अपने सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाली बातों में तिल भर भी न झुकना चाहिए। परवा नहीं, फिर यदि सारा संसार भी उसके प्रतिकूल हो जाय। परन्तु जहाँ तत्त्व का प्रश्न न हो, वहाँ उसे कदापि आग्रह नहीं करना चाहिए। गौण बातों में निराग्रही रहकर कदम-कदम पर लोकमत का संमान कर उसे अपने को होम देना चाहिए। यही उसके लिए धर्म का रास्ता है, दूसरा नहीं। समाज-निर्णय को प्रधान पद देने वाले अपने सिद्धान्त के लिए आग्रही बन कर, शेष बातों में हाथ-पैर समेट कर अपने को समाज के हाथों में सौंप देने वाली कूर्म-वृत्ति नहीं रख सकते। उनका वह धर्म नहीं। वे अपने विषय में विनय पूर्वक अश्रद्धा रखते हैं। परन्तु समाज पर, जनता पर, उनकी अमर्याद श्रद्धा रहती है। वे जनता को ही जनार्दन मानते हैं। उनका खयाल है कि संसार का व्यवहार अधिकार से ही चलता है, सत्ता से ही चलता है। राष्ट्र तो समाज-सम्राट् की शुभचिंतक प्रजा है। और उस सम्राट् ही को उसका नियमन करना चाहिए।

हिन्दूधर्म में इन दोनों धर्म-वृत्तियों के दो महान् उदाहरण भी मौजूद हैं।—राजा रामचन्द्र और जगद्गुरु श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने किसी दिन राज्यपद अपने हाथ में नहीं लिया; और समाज को संतुष्ट रखने के लिए सीता का त्याग या शम्बूक का

बध करते हुए राजा रामचन्द्र भी बिलकुल नहीं हिचके। कौन कह सकता है कि इन दोनों संप्रदायों में कौनसा पुराना और कौनसा श्रेष्ठ है ? श्रीकृष्ण दोनों को एक से उत्तम मानते थे और अपने शिष्यों में से जिसका जो अधिकार होता, उसे उसी तरह का उपदेश देते थे। इसी कारण उद्धव-गीता और अर्जुन-गीता का पृथक-पृथक निर्माण हुआ। ईश्वर की योजना अथवा सत्य की सुन्दरता के कारण इन दोनों में विरोध नहीं हो सकता। और इसीसे विश्व का व्यापार आजतक सुव्यवस्थित रीति से चला आया है। जब जब वृत्ति-भेद का यह उत्तम रहस्य ध्यान में नहीं आया, अथवा जब-जब मोह के कारण समर्थ व्यक्तियों ने इस विशिष्ट वृत्ति-भेद में स्वधर्म का पालन नहीं किया, तभी तब संसार में दुष्टता उत्पन्न हुई और उत्पात भी हुआ है।

तत्त्व और व्यवहार

"आप तो आदर्श-लोक के निवासी ठहरे। व्यवहार में ऐसे आदर्श नहीं काम दे सकते। यहाँ तो संयोगों का स्वागत करते हुए व्यवहार की रक्षा करने वाला मनुष्य ही निभ सकता है।" यों कहने वाले तो क़दम-क़दम पर मिलते हैं। पर हमें यह हमेशा देखना चाहिए कि यह व्यवहार और ये संयोग हैं क्या चीज़?

व्यवहार एक सत्य वस्तु है, परन्तु यह नहीं कि यह सर्वदा अच्छी ही वस्तु हो। बीमारी में हानिकारक भोजन पर भी मन दौड़ता है। यह वासना भी सच्ची तो है ही, पर उसके वश में हो जाना श्रेयस्कर नहीं और न उसमें पुरुषार्थ ही है।

तत्त्व ऊपर को ले जानेवाली वस्तु है और व्यवहार नीचे को। संसार में इन दोनों के बीच सनातन युद्ध होता चला आया है। हां, इनके बीच समझौता या सुलह करने के लिए अबतक अनेक प्रयत्न भी होते आये हैं, किन्तु व्यवहार बड़ा दुराग्रही है। तत्त्व-पक्ष तो समाधान की शर्तों को स्वीकार कर लेता है, परन्तु व्यवहार-पक्ष तो उसे ज्यों-ज्यों रिआयतें मिलती जाती हैं, त्यों-त्यों और भी रिआयतें माँगता जाता है, और अन्त में तत्त्व का खून तक कर डालता है। इसलिए तत्व-पक्ष को सदा सावधान रहना चाहिए। उसे कभी व्यवहार के साथ हमेशा के लिए समझौता नहीं कर लेना चाहिए।

तत्त्व और व्यवहार के सनातन युद्ध में हम कौन-सा पक्ष ग्रहण करें ? किस पक्ष से सहानुभूति रक्खें ? किसके झण्डे के नीचे खड़े रहें ? जीवन में यही बड़े से बड़ा प्रश्न है। जीवन में व्यवहार-पक्ष का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। पर इसमें दो बातें हैं। एक तो केवल व्यवहार-पक्ष का अस्तित्व स्वीकार कर लेना और दूसरे उसका सहयोगी बनना। व्यवहार-पक्ष प्रारम्भ में सदा सौम्य, समझदार और उत्तम स्वभाव वाला मालूम होता है, और इसीसे हम उसके वश हो जाते हैं। परन्तु जहाँ एक बार व्यवहार-पक्ष की ओर मत दिया नहीं, उसकी तरफ़ से हाथ ऊँचा किया नहीं कि उसका साम्राज्य हमारे सिर पर हुआ नहीं। और प्रारम्भ हो जाने के बाद तो व्यवहार की हुकूमत तेजी से बढ़ती ही जाती है।

व्यवहार इतना चतुर है कि तत्त्व का खून करने के बाद भी वह उसके शव को इस ढंग से सुरक्षित रख छोड़ता है कि जिससे तत्त्व-पक्ष वालों को यह भ्रम बना ही रहे कि अभी तो तत्त्व जीवित है। व्यवहार हमेशा कहता है, 'नाम मात्र के लिए राजा चाहे कोई हो, मुझे उसकी पर्वा नहीं, सत्ता अगर मेरी हो तो मेरे लिए काफ़ी है।'

आज हमारे समाज में तत्त्ववादी कितने हैं, और व्यवहारवादी कितने ? जब किसी राष्ट्र में तत्त्ववादियों की संख्या बढ़ जाती है तब देश की उन्नति होती है। व्यवहारवादियों ने किसी समय किसी भी समाज या राष्ट्र का उद्धार नहीं किया।

तर्क और भावना

तर्क और भावना ये दोनों मनुष्यता के आवश्यक अङ्ग हैं। तर्क-शून्य भावना जितनी दोषरूप है उतना ही भावना-शून्य तर्क भी दुष्ट है। जब बुद्धि और हृदय दोनों का मेल होता है तभी मनुष्य की सच्ची उन्नति होती है। यह बतलाना कठिन है कि इन दोनों में प्रधान कौन है और गौण कौन ? फिर भी यह बात तो शास्त्र-सिद्ध, और अनुभव-सिद्ध भी, है कि मनुष्य की मनुष्यता का आधार विशेष कर भावना ही है। परमात्मा के वचन हैं, 'यह पुरुष श्रद्धामय है,' 'जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा उस का जीवन'। तर्क में प्रेरणा नहीं, जीवन-रस नहीं। वह तो प्रेरणा का पहरेदार मात्र है। जिस प्रकार एक मुग्ध राजकन्या जब तक तेजस्विनी नहीं हो जाती तब-तक उसके संरक्षण के लिए पहरेदार रखने पड़ते हैं, उसी प्रकार तर्क की प्रतिष्ठा तभी तक है जबतक कि प्रेरणा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट नहीं हो जाती। वास्तव में तर्क की अपनी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

तर्क में शौर्य नहीं, तर्क में वीर्य नहीं, तर्क में कार्य-प्रेरक-साहस नहीं, तर्क में त्याग नहीं। निरन्तर जागरण से उसकी आँखें लाल रहती हैं। वह अत्यन्त सावधान अतएव निर्दय होता है। अकेला तर्क मनुष्य को स्वहितवादी बनाकर अधोगति के गढ्ढे में डाल देता है। तर्क के हाथ में वैश्यधर्म की तराजू होती है।

भावना में वीर-वृत्ति है। भावना में दिव्य दृष्टि है। उसकी सरलता उसकी रक्षा करनेवाला कवच है। भावना के अतिरेक से होनेवाली हानि क्षणिक और तुच्छ होती है। तर्क के अतिरेक से होनेवाली हानि तो स्वयं आत्मा को ही क्षीण कर डालती है।

संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं जिसमें तर्क और भावना का मेल न हो तथापि सारा दारोमदार इसी बात पर है कि उसके हृदय में राजसिंहासन किसे प्राप्त होता है। यदि तर्क राजा बन कर भावना को अपनी दासी बना लेगा तो मनुष्य धूर्त्त और विद्वान् पशु बन जायगा। भावना का ढोंग बनाकर वह संसार को बहुत बड़ी देर तक ठग सकता है। हाँ, और अपने को भी वह कुछ कम नहीं ठगेगा।

इसके विपरीत यदि मनुष्य भावना को हृदयेश्वरी और तर्क को उसका विश्वास-पात्र सेवक बना दे तो वह ऐहिक और पारलौकिक उन्नति भी कर सकेगा। उससे समाज की मनुष्यता का सम्पूर्ण विकास हो सकता है, और हरएक व्यक्ति समाज का सच्चा स्वरूप पहचान कर उसकी सच्ची सेवा कर सकता है।

इस देश में अंग्रेजों ने जो अंग्रेजी विद्या शुरू की है वह प्रॉटेस्टेंट-वृत्ति-प्रधान है। उसे भावना पर बड़ी अश्रद्धा है। भावना तो मनुष्य के मन का एक विकार है, बुद्धि ही मनुष्य का सार-सर्वस्व है, स्वार्थदृष्टि अत्यन्त स्वाभाविक अतएव उचित है और तर्क की दूरदृष्टि-द्वारा संपादित स्वार्थ ही सकल जगत् का कल्याण कर सकता है—ऐसे विचारों की नींव पर प्रॉटेस्टेंट विद्या की इमारत खड़ी है। हम अंग्रेजों की विद्या लेकर क्रिस्ती तो नहीं बने, पर प्रॉटेस्टेंट जरूर हो गये हैं। इसी कारण हमारी सामा-

जिक और राजकीय हलचलों में आजतक हमने ऐहिक सुखोप-भोग, स्वच्छन्द और व्यक्तिगत स्वार्थ को स्वाभाविक समझ कर उन्हें प्रतिष्ठा अर्पण की है। स्वार्थ और सुख-लालसा स्वयं ही इतने बलवान् हैं कि, उनका अपमान करते रहने पर भी मनुष्य के हृदय पर उनका प्रभाव अनेक बार पड़ता ही है। फिर इन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने पर तो इनके लीला-विस्तार की बात ही क्या करनी है? बेशक, अन्तिम लाभ के लिए क्षणिक त्याग और असुविधा उठाने को यह प्रॉटेस्टेंट वृत्ति जरूर तैयार हो जाती है। पर यह तो असुरों की तपस्या है। तपस्या में दैत्य देवताओं से कम नहीं होते।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि, मनुष्य तर्क का समूल त्याग कर दे। तर्क जिस भावना को उखाड़ सकता है वह शुद्ध भावना नहीं, वह तो मोह होता है। उसका त्याग ही करना श्रेयस्कर है। शुद्ध भावना को काटना तो दूर, वहाँ तक तर्क पहुँच भी नहीं सकता। बल्कि इस असमर्थता को स्वीकार करके वह पीछे हट जाता है।

क्या हिंसा स्वाभाविक है ?

उन लोगों की बात जाने दीजिए जो वैर का बदला लेने के लिए हिंसा का पक्ष करते हैं अथवा स्वभावतः ही हिंसा में आनन्द लेते हैं। तथापि ऐसे बहुतेरे लोग हमें मिलेंगे जिन्हें अहिंसा प्रिय होते हुए भी व्यवहार्य नहीं मालूम होती। वे कहते हैं,—यह ठीक है कि यदि अहिंसा सीखी जा सके तो उस में कुछ भी बुराई नहीं और यह भी ठीक है कि यदि अहिंसा का पालन किया जा सके, तो हमारा राजनैतिक ध्येय भी हमें आसानी से और जल्दी मिल सकता है। पर सवाल यह है कि इतनी अहिंसा किस तरह उत्पन्न हो सकती है? यह हम नहीं समझ सकते। सरकार हिंसावादी है। जबतक वह स्वराज्य देना स्वीकार नहीं कर लेती तबतक तो उसे हिंसा ही पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। अपने पशुबल-द्वारा एक निश्शस्त्र राष्ट्र को दबाने के लिए सरकार के पास असीम शक्ति है। इधर हम ताजे अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि सरकार की नीति इस विषय में कहीं सुधर गई हो सो भी नहीं। ऐसी स्थिति में अत्याचारों को सहते-सहते यदि प्रजा आकुल हो उठे और कुछ हिंसाकांड कर बैठे तो उसमें कौन अस्वाभाविक बात है? हम जरूर मानते हैं कि किसी भी परिस्थिति में उपद्रव कर बैठना बुरा है परन्तु ऐसी वृत्ति कर लेना हमें तो असम्भव प्रतीत होता है कि हम से कभी हिंसा हो ही नहीं।

इस तरह के शंकाशील लोगों की शंका प्रामाणिक होती है। उस पर पूरा-पूरा विचार अवश्य ही करना चाहिए। ऐसे लोग मनुष्य-स्वभाव का एकांगी दर्शन ही करते हैं, भूतकाल के अनुभव पर वे अधिक भार रखते हैं और उसमें भी वे एक ही तरह के अनुभव की जाँच करते हैं। वे यह तो जरूर मानते हैं कि अहिंसा का नियम योग्य है। परन्तु जितनी चाहिए उतनी यह शिक्षा उनकी ठीक-ठीक समझ में नहीं आती कि जो योग्य है वह शक्य होनी भी अवश्य चाहिए; उन्हें यह डर बना रहता है कि जन-साधारण का स्वभाव जैसा आज है वैसा ही आगे रहेगा, बल्कि उन्हें इसका निश्चय होता है। मनुष्य की इस बात पर से श्रद्धा उठ गई है कि शास्त्रीय, बौद्धिक और भौतिक शिक्षा के इन दिनों में प्रयत्न करने पर मनुष्य की नैतिक उन्नति भी हो सकती है। आम तौर पर यह खयाल फैला हुआ है कि हरएक मनुष्य अपना स्वार्थ खोजेगा ही और स्वार्थ के लिए जितनी हिंसा करनी पड़ेगी उतनी हिंसा भी बिना किये वह नहीं रहेगा। कहा जाता है कि यह मानव-प्रकृति है। परन्तु वास्तव में यह प्रकृति नहीं, विकृति है।

स्वार्थ और हिंसा ही यदि मनुष्य की प्रकृति होती तो समाज कभी का रसातल को चला गया होता, आज कोई न बच पाता—न ज़ालिम, न गुलाम।

कहावत है कि यह उचित नहीं कि एक मनुष्य ने गो-वध किया तो दूसरा भी बछिया को मारे, यह कहावत असाधारण-कोटि के महात्माओं के लिए नहीं है। कोई हिन्दू स्वार्थ के लिए क़साई का काम न करेगा, न गो-मांस का विक्रय ही करेगा।

मुसलमान भी स्वार्थ के लिए कोई ऐसा काम न करेगा जो उसके दीन के विरुद्ध होगा। यही बात सब के लिए कही जा सकती है। एक भाई यह नहीं चाहता कि दूसरे भाई को फाँसी की सजा हो, न वह उसके विरुद्ध ऐसी गवाही ही देगा। संसार का संपूर्ण व्यवहार क्षमा से ही चलता है। यदि हरएक अपराधी को सजा ही देने बैठें तो संसार में दो-चार मनुष्य भी रहने पावेंगे या नहीं, यह प्रश्न है। उपद्रव करना अथवा हिंसा करना यह हमारे अज्ञान का सूचक है। यह हमारी बिगड़ी हुई स्थिति का चिह्न है। हिंसा इसलिए कभी स्वाभाविक नहीं सिद्ध हो सकती कि हम बिगड़े हुवों या अज्ञानियों की संख्या समाज में ज्यादा है।

यदि मनुष्य शुद्ध स्वार्थ को ही जान जाय तो भी वह आज जितनी हिंसा सीखता है उससे कम हिंसा करने लगे। कई बार मनुष्य विकार-वश अपने स्वार्थ की हानि करके भी हिंसा करने लग जाता है। आज जिन्हें सुधरे हुए राष्ट्र कहा जाता है उनमें इतना संयम तो होता है कि जहाँ हिंसा न करने में स्वार्थ हो, वहाँ वे विकार को दबाकर हिंसा को रोक सकते हैं। स्वराज्य का उपभोग करनेवाले हरएक राष्ट्र में इतनी शक्ति तो अवश्य होती है। विकार-वश वे ही होते हैं जो जंगली हैं, जो स्वराज्य के वातावरण को भूल गये हैं, या जिनमें स्वराज्य प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा ही नहीं रही।

दो सुधरे हुए राष्ट्रों के बीच हद दर्जे का वैर उत्पन्न होने पर भी, बल्कि उनमें युद्ध छिड़ जाने पर भी, शत्रु-पक्ष के राजदूतों की रक्षा तो जरूर की जाती है। देश में दो पक्ष ही कर भीतर ही भीतर जब यादव-स्थली मच जाती है, जब मनुष्य पागल होकर

इतना खून-खच्चर करने में अपने-आपको भूल जाते हैं तब भी उनमें इतना संयम तो बच रहता है कि वे विदेशी राजदूतों को सुरक्षित रक्खें। इससे यह स्पष्ट है कि, क्रोध और निराशा की स्थिति में भी संयम रखना अशक्य नहीं है। तो आज जब महा-सभा एक व्यावहारिक नीति की तरह अहिंसा को स्वीकार करने का राष्ट्र को उपदेश दे रही है, तब महासभा उससे उसी संयम की आशा करती है जो अनेक देशों की साधारण जनता में प्रायः पाया जाता है। यदि मनुष्यों में उससे अधिक श्रद्धा आ जाय तो यह तो अभीष्ट ही है। परन्तु स्वराज्य भोगनेवाले अन्य राष्ट्रों के जितना संयम तो कम-से-कम हमारे अन्दर अवश्य ही होना चाहिए।

हाँ, कोई कह सकता है कि, दूसरे देश के मनुष्य हम लोगों के समान निराश नहीं होते, इसलिए वे संयम का पालन कर सकते हैं। पर उसका यही उत्तर है कि, हमें अपने अन्दर स्वराज्य-विषयक श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए। अग्रगण्य लोग अहिंसा का उपदेश करके ही देश में स्वराज्य के लिए आस्था उत्पन्न कर सकते हैं और यदि वे जनता में अहिंसा के प्रति धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न कर सकें तो हम शांति से—अर्थात् अपनी ओर से शांति रखते हुए स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, यही नहीं वरन् संसार में शाश्वती शांति स्थापित होने का उसे विश्वास भी दिला सकेंगे।

बलिदान का शास्त्र

यदि देश को बचाना हो तो सेना को मरने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। यदि सेना कहने लगे कि, 'हम लड़ने को तैयार हैं, परन्तु मरने की हमें कोई जरूरत नहीं मालूम होती है; मर कर देश को हमारी सेवा से वंचित क्यों करें' तो जानना चाहिए कि उस सेना में क्षात्रवृत्ति नहीं। देश-सेवा के व्रतधारियों को इसका विचार छोड़ देना चाहिए कि स्वयं कितना कर सकते हैं। उन्हें तो यह लक्ष्य रखना चाहिए आज देश की गम्भीर स्थिति में कितने स्वार्थत्याग की आवश्यकता है। यों ही कुछ करते जाना हो या अपनी शक्ति आजमानी हो तब इसका हिसाब लगाना उचित है कि हमसे कितना दौड़ा जायगा। परन्तु जब महासंकट आ गिरा हो, किसी के प्राण बचाने हों, किसी डूबते हुए प्रेमी को बचाना हो, स्त्री की इज्जत की रक्षा करनी हो या शत्रु के हाथ में से छूटकर भग जाना हो, ऐसे प्रसङ्गों में तो ईश्वर पर निष्ठा रख कर शरीर का खयाल छोड़ कर ही प्रयास करना चाहिए। भले ही प्राण चले जाँय! "मुझे इस काम में मरना है, यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो ईश्वर मुझे यश दे कर उसमें से बचा लेगा, इस वृत्ति से मनुष्य को दौड़ पड़ना चाहिए। प्रत्येक सैनिक—सच्चा वीर

इसी निश्चय से रण में कूदता है। सेना में भरती होने के समय सैनिक यही प्रतिज्ञा करता है कि इस देश या इस गद्दी की जो सेवा आज मैंने स्वीकार की है वह मैं अपने जीवन या मृत्यु-द्वारा भी पूरी करूँगा।

बहुत बार मनुष्य का शत्रु 'मार' आ कर कान में कहता है, अरे तू पागल तो नहीं हो गया है? मर कर तेरे हाथ क्या आवेगा? तेरा आत्म-बलिदान व्यर्थ जायगा। व्यर्थ ही क्यों बरबाद हो रहा है? इस समय तो जीने की जरूरत है। ज्यों-त्यों करके जी ले। जीता बचेगा तो फिर और लड़ सकता है।" सच्चा क्षत्रिय वीर मार को एक ही उत्तर देता है, 'ऐन वक्त पर यदि मैं पूरी सेवा न करूँ तो सौ वर्ष जी कर भी मैं क्या सेवा कर सकूँगा? हम क्षत्रिय लोग आत्म-बलिदान का हिसाब लगाने नहीं बैठते। जीवन-मरण ईश्वर के हाथ की बातें हैं। आज मैं जीने का प्रयत्न करूँ और फिर किसी बार सेवा का अवसर ही न आवे तो? अथवा कल बिस्तर में पामर के समान पैर घसीट-घसीट कर मरने का समय आ जाय तो? आई हुई घड़ी को धोखा देकर आने वाली घड़ी का हितचिंतक मैं क्यों बनूँ? उसकी चिन्ता तो ईश्वर करेगा?

सच्चा वीर अपने काम का मूल्य गिनता है, अपने त्याग का नहीं। महात्माजी कारावास में गये तब उन्होंने अपने त्याग का हिसाब नहीं लगाया था। जिस स्वराज्य के लिए उन्होंने अपना अपूर्व बलिदान दिया है वह स्वराज्य शीघ्र से शीघ्र किस तरह हस्तगत किया जाय इसी का विचार हमें हमेशा करना चाहिए। यदि किसी ने देश के प्रीत्यर्थ आत्म-बलिदान किया हो तो उसकी कदर इसका विचार करके हम नहीं कर सकते कि उन्हें किस तरह थोड़े

में थोड़ा सहना पड़े। वह कदर तो उनकी त्यागवृत्ति को स्वयं धारण करके और उनके समान स्वराज्य के फकीर बनकर ही हम कर सकते हैं। हर एक मनुष्य के पास त्याग के लिए इतनी चीजें नहीं, जितनी उनके पास थीं परन्तु सर्वस्व हवन कर देने की वृत्ति तो प्रत्येक मनुष्य उनके जितनी जरूर धारण कर सकता है। स्वराज्य-देवता को उस वृत्ति की आवश्यकता है। परतन्त्रता देवी ने हमारे पास से कम बलिदान नहीं लिया, परन्तु वह खुले दिल से नहीं दिया गया है। स्वतन्त्रता देवी बड़ी मानिनी है। वह उस बलिदान का अंगीकार नहीं करतीं जो खुले दिल से नहीं दिया गया है। उत्तेजना में आकर बलिदान दे देने के बाद यदि हम डींगे मारने लगेंगे तो स्वतन्त्रता देवी उस भोग का त्याग करती है। हमारा भोग निकम्मा जाता है और स्वतन्त्रता देवी का अपमान होता है। एक कवि कहते हैं—"भीख माँगते देखा मैंने शाह आलम के बेटों को।" पर वह तो परतन्त्रता देवी का बलिदान था। वही बलिदान यदि हम स्वतन्त्रता देवी को देते तो आज हिन्दुस्थान उन्नति के शिखर पर पहुँच गया होता। स्वतन्त्रता देवी बड़ी नखरीली है। वह प्रत्येक बलि को परख-परख कर लेती है। उसे सन्तुष्ट करना आसान नहीं है। किन्तु उसका प्रसाद भी उतना ही दिव्य होता है। प्रसन्न होने पर वह विचार नहीं करती कि क्या दूँ और क्या न दूँ। हां, वह जल्दी नहीं पसीजती। जबतक प्रसन्न नहीं होती तबतक तो वह वज्रहृदया, निर्दयता की मूर्ति होती है। उसे रिझाने के लिए तो बलिदान की झड़ी लग जानी चाहिए। वह इसका विचार नहीं करती कि कौन गिरे और कितने गिरे। वह अपनी बहन 'कीर्ति-देवी' से कहती है, 'गिरे हुओं का

हिसाब तू रख। वह काम तेरा है। बलिदानों से जब मैं छक जाऊँगी तब प्रसाद दूँगी, तब तक मेरे झरने सूखे ही रहेंगे'।

हर एक वीर उस मानिनी के स्वभाव को अच्छी तरह पहचानता है। यदि भक्ति में व्यतिक्रम हो जाय तो वह भी उस मानिनी को सहन नहीं होता। स्वतन्त्रता की उपासना छोड़ कर हम गाँधीजी की उपासना करने लग जायं तो भी वह सहन नहीं कर सकती। वह कहती है, 'गाँधी ने मुझे अपना सर्वस्व दे दिया; और अपने को भी दे दिया। उसपर ममत्व रखने वाले तुम कौन होते हो? यदि उसके विषय में तुम्हें इतनी ममता हो तो उसीके समान तुम भी मेरे समीप आ जाओ, मुझे अर्पण हो जाओ मेरे लिए कुरबान हो जाओ। दूसरा कोई उपाय नहीं।'

राष्ट्र-पूजा

राष्ट्र-पूजा-धर्म

मनुष्यों में परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ रहती हैं। मनुष्य सन्त भी है और असन्त भी। मनुष्य के जीवन में इन दोनों वृत्तियों का विरोध है। किसी दिन संत-वृत्ति विजयी होती है तो किसी दिन असन्त-वृत्ति बलवती सिद्ध होती है। परन्तु जब असन्त-वृत्ति अपनी सारी चतुराई खर्च करके व्यवस्थित (Organised) योजना-पूर्वक काम लेती है तब सन्त-वृत्ति के लिए विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता है। एक धनवान् सेठ नीति-अनीति, विधि-निषेधों को तलाक देकर केवल कानून न समझे जाने वाले सभी मार्गों का अवलम्बन करता हुआ द्रव्य कमाने की कितनी बड़ी आयोजना (Organisation) करता दिखाई देता है! किन्तु वही मनुष्य अपने सामाजिक ऋण चुकाने अथवा हृदय में प्रसङ्गोपात्त झाँकने वाले दयाभाव को सन्तुष्ट करने के लिए कितनी परवा करता है? वह गरीबों के पास नहीं जाता। इतना ही नहीं, वरन् गरीब आवें तो उन्हें रोकने के लिए दरवाजे पर पहरेदार रखता है। हाँ, चित्त को संन्तुष्ट करने के लिए पींजरा-पोल में कितने ही जानवरों की हड्डी और चमड़े जीते रखने के लिए या अनाथाश्रम के लड़कों को अन्न-वस्त्र देने के लिए हजार-दो-हजार रुपये खर्च कर जरूर अपने को कृतकृत्य समझ लेता है, और अपनी इस भलाई को संसार की नजर में लाने के लिए सभी तरह की युक्तियों की योजना करता है। यह हुई व्यक्ति

की स्थिति। जब ऐसे व्यक्ति अपना गुट बना लेते हैं तब तो स्वार्थ की आयोजना और भी बढ़ती है और बेचारे परमार्थ को दूर भागकर अपने लिए एक कोना खोजना पड़ता है। देश जब धर्म-पराङ्मुख होता है तब उनकी भी यही दशा होती है। सर्वत्र यही ख़याल फैल जाता है कि न्याय, धर्म अथवा दया तो व्यक्ति के लिए हैं; राष्ट्र को तो हमेशा अपना स्वार्थ—दूरदेशी स्वार्थ सिद्ध करने में ही दत्तचित्त रहना चाहिए। यही उसका धर्म है।

जिस समय संसार में स्वेच्छाचारी राजाओं की तूती बोलती थी उस समय राजा ही इस स्वार्थ का प्रतिनिधि था; और प्रजा तो केवल अपनी वफ़ादारी बतानेभर के लिए उसमें शरीक होती थी। आज संसार में प्रजा की तूती बोल रही है इसलिए उसी के लिए स्वार्थ ने प्रजाओं को घेरा है और राष्ट्र-पूजा-धर्म आरम्भ हुआ है। प्रजा की स्वार्थ-वृत्ति सङ्कठित होगई है और न्याय तथा दया की वृत्ति यहाँ-वहाँ मारी-मारी फिर रही है। लोगों की स्वाभाविक वृत्ति और सङ्कठित स्वार्थ इन दोनों के बीच में तात्त्विक भेद दिखा कर कविवर रवीन्द्रनाथ ने प्रजा और राष्ट्र (People और Nation) ऐसे दो भेद कल्पित किये हैं। अपने स्वार्थ को व्यवस्थित रीति से साधने के लिए प्रजा ने पार्लमेंट या लोक-सभा की सृष्टि की। उनकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए एक पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाला कर्मचारीगण उत्पन्न किया। और इसके फल-स्वरूप आज यह योजना इतनी सर्व-भक्षक हो गई है, कि उसके नीचे स्वयं प्रजा ही पीसी जा रही है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"प्रजायें तो सजीव प्राणी हैं, परन्तु राष्ट्र तो एक भारी यन्त्र मात्र है। यन्त्र जिस काम के लिए बनाया जाता है उतना ही काम वह तो

सफाई से कर देता है । यन्त्र के हृदय नहीं होता । प्रजा ने अपनी सत्ता और महत्ता बढ़ाने के लिए इस राष्ट्र-रूपी यंत्र का निर्माण तो किया किन्तु उस यन्त्र के लिए कोई 'ब्रेक' नहीं बनाया । इससे यह निरंकुश यन्त्र प्रजाओं को जहाँ और जिधर खींच ले जाय वहीं वे खींची जा रही हैं । इस यन्त्र की सफ़ाई और योग्यता देखकर यूरोप के लोग उस पर इतने अधिक मोहित हो गये हैं कि उन्होंने उसे ठेठ ईश्वर के स्थान पर स्थापन कर देने में भी आना-कानी नहीं की । इसीलिए आज यूरोप में सर्वत्र 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' फैला हुआ है । 'राष्ट्रात् परतरं नहि' यह आज यूरोप का आचार सूत्र (Working Faith) हो गया है । न्याय, नीति, दया और धर्म सब राष्ट्र के लाभ की दृष्टि से ही किया जाय । मनुष्य अपने जान-माल और सर्वस्व की क़ुरबानी करे, पर राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए, ईश्वर के नाम पर नहीं ।

यूरोप की सभी प्रजायें इस धर्म को मानती हैं, पर उसे साफ़-साफ़ स्वीकार करने की हिम्मत और ढिठाई तो अकेले जर्मनी ही ने दिखाई । जर्मनी में इस 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' का प्रचार करने वाला अध्वर्यु ट्रीट्रस्के था । अंग्रेज भले ही उसकी चाहे जितनी निन्दा करें परन्तु वही सम्पूर्ण यूरोप का प्रतिनिधि है । वह साफ़ कहता कि 'खिस्त की नीति केवल व्यक्ति के लिए ठीक है । समस्त राष्ट्र पर कोई नियन्त्रण नहीं लगा सकता । यह सत्ता किसी को नहीं । राष्ट्र सर्वोपरि है । राष्ट्र के चरणों में बलिदान देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है ।' जिस प्रकार हमारे देश में अहङ्कार का बलिदान देने के बदले बकरे का बलिदान देने की सुलभ पद्धति मनुष्यों ने खोज निकाली है उसी प्रकार यूरोपवासियों ने

अपने राष्ट्रदेव को सन्तुष्ट करने के लिए आफ्रिका, अमेरिका और एशियाखण्ड के निवासियों का बलिदान देने की प्रथा का आरम्भ कर दिया है। अमेरिका के ताम्रवर्ण मनुष्यों का तो अक्षरशः बलिदान किया गया, क्योंकि वे दूसरी तरह उनकी अधीनता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। आफ्रिका में सदियों के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का बलिदान देकर यूरोपियनों ने अपने राष्ट्रदेव को संतुष्ट किया। और एशिया में प्रसन्नता-पूर्वक यूरोप की अधीनता का स्वीकार करने वाली प्रजा को देख कर उन्होंने उस पर अपने राष्ट्र की सत्ता को प्रथापित किया। राष्ट्रदेव दो प्रकार की पूजा माँगते हैं—व्यापार और अधिकार। इस सर्व-भक्षी देव के सामने बलि देने के लिए जब और कुछ बाकी न रह जायगा तब यूरोपियन प्रजा को ही वह खाये बिना नहीं रहेगा, यह सिद्ध है। हिन्दुस्थान के इस राष्ट्र-देव की भूख का शिकार हो जाने के कारण ही रवीन्द्रनाथ के समान दिव्य-दृष्टि वाले भारतीय राष्ट्रदेव का माहात्म्य समझ सके हैं। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' इस सनातन सिद्धान्त पर उनकी अटल श्रद्धा है। परन्तु उन्नसवीं शताब्दि के अन्त में यूरोप के भावी विनाश का चित्र इस विश्व-प्रेमी कवि के सम्मुख खड़ा हुआ। यूरोप के भयानक संहार को देखकर कवि-हृदय थर्रा उठा। हिन्दुस्थान की परम्परागत करुणा रवीन्द्रनाथ में मूर्तिमती हुई। हिन्दुस्थान को अपना गुरुपद स्मरण हो आया और रवीन्द्रनाथ ने इस ऋषि-वाणी का सन्देश पश्चिम को पहुँचाया कि—

वर्धत्यधर्मेण नरस्तो भद्राणि पश्यति।
ततःसपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

'अराष्ट्रीय' प्रजायें यदि आज कुछ अभय हैं तो उसका श्रेय

यूरोप की धर्म-बुद्धि को नहीं, परन्तु यूरोप की राष्ट्रीय प्रजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या और असूया को है।

हम अभी तक यूरोप का उत्कर्ष ही देखते आये हैं। यूरोप की विजय की ईर्ष्या और अपने अपमान की जलन के कारण हिन्दुस्थान की धर्म-श्रद्धा आज डगमगाती हुई मालूम होती है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' यह वचन हिन्दुस्थान की दृष्टि से सिद्धान्त मिट कर केवल संसार के आश्वासन का वचन होता जा रहा है। राष्ट्रीय स्वार्थ की आसुरी प्रतिस्पर्धा में हम भी उतरेंगे तभी हम जी सकते हैं, तभी अपने अपमान की क्षति-पूर्ति हो सकती है, ऐसा उन्माद हमारे अंदर संचार करता जा रहा है। 'धर्मो धारयते प्रजाः' इस श्रद्धा का विसर्जन करके हिन्दुस्थान 'राष्ट्र देवो भव' इस ध्यान मन्त्र को स्वीकार करता जा रहा है। 'मातृ देवो भव' 'पितृदेवो भव' 'अतिथि देवो भव', 'अचार्यदेवो भव' आदि पुराने मन्त्रों की भावना ही से यदि यह 'राष्ट्रदेवो भव' का नया मन्त्र स्वीकार किया जा रहा हो तब तो कोई हर्ज नहीं। माता-पिता, गुरु और अतिथि के प्रति आदर-भाव रक्खो। उनकी पूजा करो, उनके सम्मुख अपने स्वार्थ और अभिमान को ज़रा भी न प्रकट करो इत्यादि जिस तरह हमारे धर्म हैं, उसी तरह राष्ट्र-हित के सम्मुख भी किसी मनुष्य को अपने स्वार्थ का विचार तक नहीं रखना चाहिए। अपने स्वार्थ का विचार इसी तरह करना चाहिए, जिससे राष्ट्र-हित में बाधा न पड़े और जब राष्ट्र को आवश्यकता हो तब अपनी जान और माल की भी कुरबानी करने को तैयार रहना चाहिए, यह भावना हो तो वह अवश्य पवित्र है। यदि 'राष्ट्रदेवो-भव' का यह अर्थ हो कि हम अपने देश में श्रद्धा

रखें, हमारे राष्ट्र की शक्ति और उसके भविष्य में अटल निष्ठा रखें, जाति-जाति के बीच या समूह-समूह के बीच में जब अनबन या कटुता खड़ी हो तब हमारा राज्य-स्वराज्य हमें अवश्य न्याय देगा ऐसा विश्वास रक्खें तो वह यथार्थ है और हमें प्रिय है। देश को देवी स्वरूप मानने की प्रथा बहुत पुरानी है। 'अहं राष्ट्री संगमनी' आदि सूक्त में यही माना गया है। जगन्माता ही राष्ट्र-रूप धारण किये हुए है और इसीलिए हिन्दुओं के खून में यह भावना भरी है कि धर्म के पालन से देश की सेवा अनायास ही हो जाती है। ज्ञाताओं को इस का ख्याल भी होगा, सर्व-साधारण में वह अज्ञात भाव से बसती होगी। आज का युग-धर्म पहचान कर उसे प्रजा के सम्मुख स्पष्ट रूप में रखने के लिए 'राष्ट्रदेवो-भव' इस मन्त्र की गर्जना हो रही हो तो वह अभीष्ट ही है। किन्तु इस मन्त्र के पीछे आजकल ऊपर बताई हुई शुद्ध स्वदेशी भावना ही है, ऐसा निश्चय नहीं होता। आज हिन्दुस्थान को अश्रद्धा ने घेरा है। लोग यों मानने लग गये हैं कि ईश्वर की अपेक्षा पाश्चात्य नीति बलवत्तरा है। भ्रमरी-कीटक न्याय यदि कहीं सच्चा हुआ तो वह यहीं हमारे देश में। हम लोगों में पाश्चात्यों की शक्ति के सम्बन्ध में जो डर घुस गया है उसीके कारण हम स्वधर्म को छोड़ कर उनके समान बनते जा रहे हैं। यदि हमें देश को निर्भय करना है, यदि हमारे प्रयत्नों की दिशा देश के उद्धार की ओर है, धर्म-संस्थापन हमारा लक्ष्य है, तो आज पाश्चात्यों के इस राष्ट्र-पूजा-धर्म के आसुरी स्वरूप से हमें सावधान हो जाना चाहिए। इस राष्ट्र-पूजा-धर्म ने पाश्चात्य प्रजाओं को किस तरह घेरा है; इसके कारण वे किस तरह प्रभु-पराङ्मुख हो गई हैं और किस

तरह खुद विनाश के दुःख में घुसी जा रही हैं; इसकी मीमांसा करना और इसका समय पर रहस्य जान लेना, उन लोगों के लिए बहुत फायदेमन्द है जो अभी उसके प्रवाह में नहीं बह गये हैं।

स्वराज्य

स्वराज्य अर्थात् अपना राज्य--प्रत्येक मनुष्य का राज्य प्रत्येक मनुष्य को किस तरह मिलता होगा? प्रत्येक मनुष्य राजा हो जाय तो फिर नौकर कौन हो? तीन बरसों में या सात बरसों में एक बार मेरा प्रतिनिधि चुनकर लोक-सभा में भेजने का स्वत्व मुझे मिला क्या इतने से ही स्वराज्य हो गया? वह तो स्व-प्रतिनिधि-राज्य हुआ। यवन (ग्रीक) लोगों को नगरराज्यों में प्रत्येक घर का बुजुर्ग मनुष्य लोक-सभा में जाकर बैठता था। क्या हम उस तरह के राज्यों को स्वराज्य कहेंगे? यवन लोग बहुतेरा काम गुलामों के द्वारा कराते थे, इसी से निगम-सभा में (नागरिकों की लोक-सभा में) बैठने का अवकाश मुरब्बियों को मिलता था। हम तो वैसा कर ही नहीं सकते। इतने वर्ष गुलामी में बिताने के बाद किसी को भी गुलामी में रखने की पापी इच्छा हमारे हृदय में प्रवेश ही नहीं करती। जब हम अपनी आज की स्थिति का विचार करते हैं तब आप-ही-आप हृदय में से उद्गार निकल पड़ते हैं कि 'प्रभो, हमारे समान दशा हमारे वैरी की भी न हो।'

तो फिर स्वराज्य का अर्थ क्या? स्वराज्य यह मध्यम मार्ग है। जब हम किसी का गुलाम या किसी का मालिक बनने से इन्कार करते हैं, तभी हमारे लिए स्वराज्य है। जो दूसरे की

आज्ञा के अधीन है वैसे ही जो दूसरे पर आज्ञा चलाना चाहता है वे दोनों गुलाम हैं। जिस तरह संस्कृत भाषा में उत्तम ऋण (लेना) और अधम ऋण (देना) इस तरह के भेद हैं उसी तरह हम साम्राज्य भोगनेवाले को उत्तम गुलाम कह सकते हैं, और पराधीनता में रहनेवाले को अधम गुलाम कह सकते हैं। इन दोनों का जिसने त्याग किया है वह स्वराज्य भोगता है। जो अत्याचार नहीं करना चाहता और अत्याचार को सह भी नहीं सकता वह स्वराज्यवादी है। बकरा अत्याचार सहन करता है। और बाघ उस पर अत्याचार करता है, इससे दोनों का नाश होता है। हमें इन दोनों स्थितियों से मुक्त होना चाहिए। पर यह किस तरह हो सकता है? आज हम स्वराज्य की तैयारी कर रहे हैं; आत्म-शुद्धि करना चाहते हैं। उसमें हमें दोनों ओर से अपना जीवन जाँचना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जालिम और गुलाम ये दोनों एक ही मनुष्य के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं, एक ही रुपये के दो बाजू हैं। एक का नाश हुआ तो दूसरी आप ही नष्ट हो जायगी। अत्याचार करने की इच्छा छोड़ दी जाय तो अत्यचार का सहन करना असह्य हो जाता है। उसका विरोध करना सरल पड़ता है। वह स्वभाव बन जाता है।

अपनी शक्ति और सम्पत्ति के बीच सदा बराबर प्रमाण होना चाहिए। यदि शक्ति से सम्पत्ति बढ़े तो दूसरे अपनी सम्पत्ति पर दृष्टि डालते हैं, और यदि शक्ति से सम्पत्ति कम हो जाय तो दूसरे की सम्पत्ति पर अपनी दृष्टि जाती है। इसी तरह अंग्रेजों का और हमारा सम्बन्ध उत्पन्न हुआ है। जैसे

और हाथी दास बनकर सेवा करने को तैयार हो जाते हैं इसी से लोग उन्हें पकड़ कर गुलाम बनाते हैं। पर बाघ हिंसक होकर हमें लूटता है इसीसे हम उसे मार डालते हैं। संसार में दूसरे असंख्य पशु-पक्षी हैं जो न हमें त्रास देते हैं और न हमारी सेवा करते। वे सुख-पूर्वक अपने-अपने स्थान में रहते हैं, क्योंकि वे स्वराज्य भोगी हैं।

स्वराज्य का अर्थ यही है कि हर एक मनुष्य स्वतन्त्रता के योग्य बन जाय। समाज की उन्नति या लोकयात्रा निर्बाध चले; इसके लिए कुछ न कुछ तो तन्त्र होना ही चाहिए। इस तन्त्र का महत्त्व मनुष्य स्वयं ही समझे और उसी तरह चले तो उसे बाह्य नियम की आवश्यकता नहीं रहती। यदि उस तन्त्र को मनुष्य न समझ सके तो समझने वाले मनुष्यों को तन्त्र अपने हाथ में लेना पड़ता है, अर्थात् यहीं से परतन्त्रता आरम्भ होती है। ईश्वर की इच्छा ऐसी स्पष्ट है कि हर एक मनुष्य स्वतंत्रता को समझ कर स्वतन्त्र हो जाय। जब ईश्वर की दृष्टि में मनुष्य अयोग्य बनता है तभी वह परतन्त्र हो जाता है और दूसरे को भी अयोग्य बनाता है। और इसीसे परतन्त्र होना एक प्रकार की सजा है; इतना ही नहीं वरन् पापरूप है। परतन्त्र रहना ईश्वर का अपराध करने के समान है। परतन्त्र मनुष्य अर्थात् ईश्वर की निष्फलता।

स्वराज्य या रामराज्य

मैंने हिमालय के एक महात्मा को अभिमानपूर्वक कहते हुए सुना था कि भारतवर्ष के तो दो ही राजा हैं- राम और कृष्ण। कर उगाहने वाले और सैन्य पर आज्ञा चलाने वाले 'क्षुद्र राजा' तो बहुतेरे हो गये और होंगे, किन्तु भारतवर्ष के हृदय पर राज्य करने वाले तो दो ही राजा हुए, और उन दोनों को राज्य का मोह नहीं था।

हिमालय के श्रद्धावान साधु के वचन आज सर्वांश में सत्य नहीं रहे। बलिहारी है अंग्रेजी शिक्षा की कि जिसके प्रताप से राम-राज्य से घृणा करने वाले कितने ही भारत-वासी दिखाई देने लगे हैं। वे कहते हैं, 'हमें स्वराज्य चाहिए 'रामराज्य' नहीं।' स्वराज्य और रामराज्य के बीच में ये भाई ऐसा कौन-सा भेद देखते हैं कि जिसके कारण उन्हें स्वराज्य तो प्रिय किन्तु रामराज्य कठिनाई देने वाला मालूम होता है? यदि वे लोग इतना ही चाहते हों कि अंग्रेजों के बदले भारतीयों के हाथ में राज-सत्ता आ जाय तो वह भारतीय नौकर-शाही होगी। कनाड़ा या आस्ट्रेलिया में जैसा प्रजातन्त्र है वैसा ही स्वराज्य-तन्त्र हिंदुस्थान में खड़ा करने की उनको इच्छा हो तो वह भारतीय राज्य होगा, स्वराज्य नहीं। परमात्मा ने हिन्दुस्थान को ऐसी स्थिति में ला कर खड़ा कर दिया कि यहाँ बिना रामराज्य के स्वराज्य हो ही नहीं सकता।

स्वराज्य अर्थात् सभी का राज्य। स्वराज्य वही है जिसमें गरीब, किसान, मजदूर, अन्त्यज और दूसरे सभी दलित वर्ग निर्भय होकर रहें, दूसरे वर्गों के समान ही राजनैतिक अधिकारों का उपयोग करें, और दूसरे किसी के भी स्वार्थ और सत्ता के शिकार न बनें वह स्वराज्य नहीं, जिसमें गरीबों को निचोड़ कर उनके पसीने से दूसरे पैसे कमावें। वह स्वराज्य नहीं है, जिसमें देश के करोड़ों रुपये परदेश में भेजकर उनके बदले देश में हमेशा के लिए अन्न का अकाल निमन्त्रित किया जाता है और कमाई करनेवाला वर्ग मारा-मारा फिरता है। 'हमें रामराज्य की जरूरत नहीं, स्वराज्य ही चाहिए।' ऐसा कहने वाले बहुशः अपना ही राज्य चाहते हैं, सबका नहीं।

ये लोग कई बार यह दलील करते हैं कि पहले स्वराज्य प्राप्त करो, पीछे रामराज्य स्थापन करने का प्रयत्न करेंगे; परन्तु यह दलील तो नाम-मात्र की दलील है। जिनके मन में अधिकार प्राप्त होने के पहले रामराज्य के विषय में आस्था नहीं वे सत्ताधारी होने पर शायद ही फिर रामराज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करें और आज तो हिन्दुस्थान में उपर्युक्त रामराज्य स्थापन करना जितना आसान है उतना वह नहीं जिसे लोग स्वराज्य कहते हैं।

स्वराज्य के लिए अर्थात् यह कि जैसा अन्य देशों में होता है वैसा प्रजातन्त्र प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने में कोई बुराई नहीं, परन्तु हिन्दुस्थान में रामराज्य को तिरस्कृत करके वह नहीं हो सकता; इतनी बात हमें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए।

शुद्ध स्वराज्य

आज भारत में अनेक तरह के स्वराज्य स्थापन करने की आवश्यकता है। राजनैतिक स्वराज्य तो जिस तरह सरकार के साथ लड़ रहे हैं उस तरह जल्दी या देर से प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु भारत का राष्ट्रीय स्वराज्य इससे बड़ा है। स्वराज्य अर्थात् अपना-अपना राज्य। शुद्ध स्वराज्य वही है जब समाज का एक भी हिस्सा या वर्ग दूसरे किसी भी हिस्से या वर्ग से दबा हुआ न रहे, जब समाज का प्रत्येक वर्ग अपने तमाम हित-सम्बन्धों को समाज के दूसरे किसी भी वर्ग के हाथ में सुरक्षित समझे।

जबतक हिन्दू और मुसलमान इन दोनों जातियों के बीच अविश्वास रहेगा तबतक स्वराज्य असम्भव है। अन्त्यजों को जब तक यह भय बना रहेगा कि अब तो ब्राह्मणों का राज्य होगा तबतक स्वराज्य न होगा। स्त्रियों को अपनी उन्नति के लिए पुरुषों के मुँह की ओर ताकना पड़ेगा, तबतक स्वराज्य असंभव है और तब तक भी स्वराज्य भारत में न हो सकेगा जब तक कि मजदूरों को अपनी इच्छा के खिलाफ़ उनके परिश्रम का अधिक भाग पूँजी-पतियों को जबरदस्ती देना पड़ेगा।

आज हमने ये चारों प्रश्न हाथ में लिये हैं। हिन्दू और मुसलमानों की एकता दिन ब दिन मजबूत होती जाती है। खादी

के द्वारा मज़दूरों का सवाल हल होता जा रहा है। अस्पृश्यता को अब अपनी मौत की घड़ी की सूचना मिल गई है, और स्त्रियाँ धीरे-धीरे समाज में अपना स्वाभाविक स्थान ले रही हैं। देश में धीरे-धीरे आत्मशुद्धि होती जा रही है और जनता में अपने कर्तव्य का भान ज्यों-ज्यों बढ़ेगा त्यों-त्यों आत्मशुद्धि भी बढ़ेगी। ज्यों ही राष्ट्र में आत्मशुद्धि का उत्साह आ जायगा कि फिर वह कहीं भी नहीं रुकेगा।

हिन्दुस्थान में तीन दल दबे हुए हैं किसान या मज़दूर, अंत्यज और स्त्रियाँ। कार्यकर्त्ताओं को प्रतिदिन यह अनुभव होता जा रहा है कि समाज में तभी बल का सञ्चार होगा जब इन तीनों का उद्धार होगा। और इन तीनों दलों की उन्नति करना हम स्वराज्यवादियों का कर्तव्य है; यह भी लोग समझने लगे हैं।

× × × ×

जहाँ अत्याचार हुआ है वहाँ उसका नाश दो तरफ़ से होना चाहिए। अत्याचार का लाभ लेनेवाले मनुष्यों को धार्मिक वृत्ति का विकास कर अत्याचार को रोकना चाहिए, और अत्याचार के शिकार बने हुए मनुष्यों को तेजस्विता, सहनशीलता का विकास कर अत्याचार के वश में होना बन्द कर देना चाहिए।

उपर्युक्त तीनों दलों की अवनति का कारण इन तीनों दलों पर सवार होनेवाले प्रतिष्ठित लोगों का अभिमान या स्वार्थ है। जो मनुष्य स्वयं शारीरिक परिश्रम नहीं करता, उसे अपने पंगुपन पर तो लज्जा उत्पन्न होनी ही चाहिए। पर इसके बदले वह अपनी पंगुता को ही प्रतिष्ठा का स्वरूप देकर उसपर अभिमान करता है और फिर जिन दलों से सेवा लिये बिना उसका चारा नहीं उनके

प्रति कृतज्ञ होने के बदले उन्हें वह नीच समझता है और अपने को श्रेष्ठ। आज समाज में सफ़ेदपोश और मजूरपेशा ऐसे जो दो भेद हो गये हैं उसका यही कारण है।

स्त्रियों को भी शायद इसी कारण हमने अबला नाम दिया होगा। अन्त्यजों से सेवा लेकर उन्हें अस्पृश्य रखना किसानों और श्रमिकों से सेवा ग्रहण करने पर भी उन्हें निर्धन दशा में रख कर चूसना; और स्त्रियों से निरन्तर सेवा ग्रहण कर उन्हें अज्ञान की अज्ञान ही बनाये रखना महान् से भी महान् पाप है। जिसे हम सहधर्मचारिणी कहते हैं, जिसके साथ हम संपूर्ण जन्म व्यतीत कर देते हैं, जो हमारी प्रजा को सबसे पहले संस्कारी शिक्षा देती है उसी को यदि हम अज्ञान, वहमी और विलास-प्रिय रहने देंगे तो हमारी दशा कभी नहीं सुधर सकती। सेना में आधे कायरों को रखकर यदि कोई सेनापति विजय प्राप्त कर सकता हो तो हम भी अपनी स्त्री, बहन, लड़की या माँ को अज्ञान रख कर कौटुम्बिक और राष्ट्रीय जीवन को उच्च कर सकेंगे।

स्त्रियों को देश की स्थिति समझानी चाहिए। देश के उद्धार में हाथ लगाने का अवसर स्त्रियों को मिलना चाहिए। स्त्रियों पर दया करके यदि हम उन्हें अपनी सार्वजनिक हलचलों की कठिनाइयों से दूर रक्खेंगे तो वे अबला की अबला ही बनी रहेंगी।

पुरुषों का स्त्रियों को अपनी आश्रित समझना उनका भारी से भारी अपमान है। जो दूसरे को आश्रित मानता है उसे कोई तीसरा आश्रित बनाता है। इसका उदाहरण हैं पण्डित लोग। स्त्रियों के आश्रित होने की प्रशंसा करते-करते बेचारे खुद ही दूसरों के आश्रित बन गये।

रामराज्य या साम्राज्य ?

स्वराज्य क्या है ?—वह स्थिति कि जिसके अन्दर दूसरा कोई हम पर अत्याचार न कर सके। इस व्याख्या को तो सभी स्वीकार करेंगे; और ऐसी व्याख्या लोक-प्रिय भी होगी। परन्तु कुछ ही विचार करने पर हम देख सकेंगे कि यही बात हम दूसरी भाषा में भी रख सकते हैं, और वह इस तरह—"स्वराज्य वह स्थिति है कि जिसके अन्दर हम दूसरे किसी पर अत्याचार न कर सकें"। इस व्याख्या और उपर्युक्त व्याख्या के बीच सिवा शब्द-भेद के और कोई अन्तर नहीं। फिर भी बहुतेरे ऐसे निकलेंगे जो इस दूसरी व्याख्या को उत्साह पूर्वक पसंद नहीं करेंगे; ज्यादा से ज्यादा वे उसे अप्रिय सत्य के समान स्वीकार करेंगे। यदि स्वराज्य इष्ट हो तो वह सभी के लिए इष्ट होना चाहिए। और यदि ऐसा है और यदि हम चाहते हैं कि हम पर कोई अत्याचार न कर सके, तो हमें यह भी ख्याल रखना चाहिए कि हम दूसरे किसी पर अत्याचार न करें। क्योंकि सच्चा स्वराज्य वही होगा जब कोई किसी पर अत्याचार न कर सके।

बहुतों का यह कथन है—दूसरे किसी में इतनी शक्ति नहीं रहनी चाहिए, कि वे हम पर अत्याचार कर सकें। परन्तु हमें कभी इतना कमजोर नहीं होना चाहिए कि जिससे हम दूसरे पर अत्याचार न कर सकें। यही साम्राज्यवाद का मूल है। यह नहीं कि मनुष्य शुरू से ही ऐसी वृत्ति धारण कर लेता है कि वह दूसरे के ऊपर अत्याचार कर सके। परन्तु वह कहता है, 'लोगों को मेरे अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए मेरी धर्म-बुद्धि और

न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखना चाहिए। किन्तु मैं स्वयं दूसरे के अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए दूसरे की न्याय-बुद्धि पर नहीं वरन् अपनी शक्ति पर ही आधार रक्खूंगा।' यह वृत्ति धर्मिष्ठ नहीं। धर्म के सिद्धांत तो सभी के लिए समान होते हैं।

आज तक शक्ति में समानता नहीं हुई और न किसी समय होगी ही। फर्ज कीजिए कि किसी शहर में एक संक्रामक रोग हो गया है और उसमें सभी लोग रोगी हो कर चारपाइयों पर पड़े हुए हैं। जिस तरह उस समय कोई किसी की कुछ हानि नहीं कर सकता, न कोई किसी को लूट सकता है, उसी तरह सार्वत्रिक अशक्ति में एक प्रकार की कुशलता जरूर है, किन्तु वह कुशलता मृत्यु के समान ही है। हिन्दुस्तान में हम एक-दूसरे की शक्ति से डर कर दूसरे की शक्ति क्षीण करके एक-दूसरे से सुरक्षित हो सकते हैं, परन्तु यह तभी हो सकता है जब सभी को समान रीति से अशक्त कर देने वाले प्लेग की तरह कोई तीसरी शक्ति ला कर हम यहाँ खड़ी कर दें। पर इसका फल क्या होगा? हम सभी को उस तीसरी शक्ति के शिकार बनकर अपने जीवन से हाथ धोना होगा।

जैसे हम चाहते हैं कि दूसरे हमारी न्याय-बुद्धि पर विश्वास रक्खें उसी तरह हमें भी उचित है कि हम दूसरों की न्याय-बुद्धि पर विश्वास रक्खें। इसी का नाम रामराज्य है।

बहुतेरे मनुष्य एक धार्मिक लक्ष्य से प्रेरित हो कर कोई सत्कार्य करने के लिए अपनी इच्छा से एकत्र होते हैं; उस समय जो शक्ति उत्पन्न होती है वह धार्मिक शक्ति है। किन्तु साधारणतया जिसे राजनैतिक सामर्थ्य कहा जाता है वह तो जब अनेक

मनुष्यों पर एक मनुष्य सत्ता चलाता है तभी उत्पन्न होता है। जब बहुत मनुष्यों की इच्छा थोड़े मनुष्यों के अधिकार में रहती है, जब अनेक मनुष्यों की शक्ति थोड़े मनुष्यों की आज्ञा में रहती है, अनेक मनुष्यों के द्रव्य को जब थोड़े मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार खर्च कर सकते हैं, अनेक मनुष्यों के सुख-दुःख का जब थोड़े मनुष्यों की मानसिक इच्छा को तृप्त करने के लिए त्याग किया जाता है, तब जानना चाहिए कि वह साम्राज्य का वातावरण है। स्वराज्य में जहाँ तक लोगों का एकमत हो वहीं तक शक्ति और सम्पत्ति एकत्र होती है। और इसीसे हरएक मनुष्य स्वतंत्र रहता है। कोई किसी का अत्याचार सहन नहीं करता और कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।

हम जन-साधारण से कहते हैं कि किसी का अत्याचार मत सहो। तब वे कहते हैं- 'हां, यह ठीक है; यह स्वराज्य का वातावरण है।' परन्तु जब हम कहते हैं कि किसी पर अत्याचार मत करो, तब वे कहते हैं कि यह तो रामराज्य की बात करते हो। हमें रामराज्य नहीं चाहिए। हमें तो स्वराज्य चाहिए। कहीं मनुष्य का स्वभाव भी बदला जा सकता है? तुम हमें साधु बना देना चाहते हो? हमें तो केवल स्वराज्य ही चाहिए।

ऐसे लोग नहीं जानते कि वे स्वराज्य नहीं साम्राज्य चाहते हैं। ऐसों को ईश्वर कहता है—मैं तुम्हें साम्राज्य तो अवश्य दूंगा; पर वह तुम्हारा साम्राज्य नहीं; तुम पर सत्ता चलाने वाला साम्राज्य होगा। ईश्वर मन में हँस कर कहता है—'देखो' ये मनुष्य कैसे दुर्बुद्धि हैं! स्वराज्य मिलने से पहले ही ये साम्राज्य का मनोराज्य करने लग गये।"

राजनीति की छुआछूत

कई लोगों का खयाल है कि जिन्होंने अपना जीवन धर्म को अर्पण किया है उनका दिल राजनीति में नहीं लग सकता। एक तरह से यह सच है। अनेक बार देश-देश के बीच या दो पक्षों के बीच जो राजनैतिक विवाद छिड़ते हैं, वे स्वार्थ या मतलब से ही सम्बन्ध रखते हैं। दोनों में एक पक्ष को भी धर्म का खयाल तक नहीं होता, और विवाद का फल भी कुछ संसारी लाभ ही होता है। ऐसी स्थिति में धार्मिक मनुष्य का स्पष्ट धर्म यही हो सकता है कि ऐसे राजनैतिक झगड़ों से वह अलग ही बना रहे।

परन्तु धार्मिक मनुष्य ऐसे कायर तो नहीं होते कि विवाद के नाम से दूर भाग खड़े हों। स्वार्थ के सिवा अन्य विषयों पर भी तो संसार में विवाद खड़े होते देखे जाते हैं। सम्पूर्ण संसार में न्याय और दयाधर्म स्थापन करने के लिए दिन-रात अधर्म से जूझना आवश्यक है और धार्मिक मनुष्य का यदि कोई बड़े से बड़ा कर्तव्य हो तो वह यही हो सकता है कि वह बहादुरी के साथ ऐसे विवादों में कूद पड़े। इस संसार में उसके जीवन की यही एकमात्र विशेषता होती है।

प्रत्येक युग में अधर्म भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करता है, क्योंकि शैतान बहुरूपी है, कामरूपी (जब चाहे वैसा रूप लेनेवाला)

है। ईसा के समय में शैतान ने धर्माचारियों का रूप धारण किया था, इसीलिए ईसा ने उन्हें देवमन्दिरों से निकालने के लिए उन पर अपना कोड़ा उठाया था। मन्दिर भी तो आखिर संसारी वस्तु ही हैं न, ऐसा कह कर वह चुपचाप नहीं बैठ रहा।

धर्म विरक्त होने पर भी वीर है। धर्म में आसक्ति नहीं, पर कायरता भी नहीं है। इससे सच्चा धार्मिक पुरुष जहाँ अधर्म देखता है वहाँ वीरोचित युद्ध ठान ही देता है। और धार्मिक पुरुष के छेड़े हुए युद्ध में सदा उसी की विजय होती है।

गाँधीजी के विषय में लिखते हुए प्रो० गिलबर्ट मरे कहते हैं—

'जिसे इन्द्रियों के भोग की पर्वाह नहीं, जो धन और वैभव को तुच्छ समझता है, जिसे स्तुति प्रफुल्लित नहीं कर सकती, जिसे संसारिक उन्नति की लालसा नहीं, परन्तु अपने को सूझा हुआ सत्य आचरण करने का जिसका दृढ़ निश्चय है ऐसे त्यागी पुरुष से काम लेते हुए सत्ताधारियों को बहुत ही सावधानी से चलने की आवश्यकता है। यह शत्रु महाभयानक और अत्यन्त असुविधा-जनक होता है। उसके शरीर को तो आप जब चाहें तभी क़ैद कर सकते हैं, पर आपका सच्चा शत्रु तो है उसकी आत्मा। उसके बदले केवल मिट्टी का शरीर ही आपकी क़ैद में आता है। यह तो घटी का सौदा होगा।"

एक समय ईसा ने कहा था "सीजर की मुद्रा सीजर को लौटा दो" किन्तु यह उन्होंने इसलिए नहीं कहा कि वे बादशाह के साथ कोई राजनैतिक विवाद मोल लेना नहीं चाहते थे, या उससे सदा दूर रहना चाहते थे। इसका अर्थ तो इतना ही था कि उनका वह युद्ध सीजर से नहीं, बल्कि

अधर्मी धर्माचार्यों से था। ईसा धर्म नष्ट करने को नहीं आये थे, वे तो धर्म के नाम पर अधर्म आचरण करने वाले धर्माचार्यों को धिक्कार कर उनसे धर्म-पालन कराने के लिए आये थे। आज राजनैतिक विषयों में अधर्म ने प्रवेश किया है। बड़ी-से-बड़ी लूट बड़ी-से-बड़ी हिंसा, और बड़े से बड़ा तेजोवध क़ानून के नाम पर सरकार-द्वारा हो रहे हैं।

सच्चा कानून तो वही है, जो नीतियुक्त हो। सत्य और अहिंसा ही संसार का सनातन क़ानून है। गाँधीजी उसका उल्लंघन नहीं करते। अपने को क़ानून की रक्षक कहलाने वाली सरकार से गाँधीजी उसी क़ानून का पालन कराना चाहते हैं। असहयोगी तो केवल नीतिहीन कानूनों को तोड़कर ही अधर्म-द्वारा प्रस्थापित सरकार की प्रतिष्ठा के टुकड़े-टुकड़े करने का प्रयत्न करते हैं। 'सीज़र की मुद्रायें सीज़र को लौटा दो' इस वचन में से यदि कुछ भी सनातन धार्मिक सिद्धांत निकाला जा सकता हो तो वह वही हो सकता है जा महाशय पाल रिशार ने निकाला है। वह कहते हैं—

'सीज़र की मुद्रायें सीज़र को दे दो'। इसके मानी हैं उन मुद्राओं को (द्रव्य को) कोई न छुओ; मुद्रा का व्यवहार ही न करो।

ईसा का मन्तव्य था कि धार्मिक मनुष्य पैसे को छू ही नहीं सकता और पैसे वाला—धार्मिक मनुष्य धर्म-प्रदेश में प्रवेश नहीं कर सकता।

ग़रीबों के लिए औषधालय बनवाने और पशुओं के लिए पशुशालायें स्थापन करने में ही कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। आज धर्माचार्यों को—धार्मिक पुरुषों को अधर्म के मुख्य क़िले पर

धार्मिक पद्धति से आक्रमण करना चाहिए। जहाँ आत्म-हनन होता है वहाँ उपदेश देना चाहिए। लोग सर्वस्व को त्यागकर आत्मा की रक्षा करें। धर्म ऐसा कायर नहीं है जो आत्मा के रक्षण के लिए राजनीति में प्रवेश न कर सके। धर्म को राजनीति की छुआछूत रखने का कोई कारण ही नहीं है। यदि वह राजनीति की छुआछूत पालने लगेगा तो राजनीति अधर्म के लिए एक सुरक्षित द्वीप-दुर्ग बन जायगी; जहाँ अधर्म निर्भय होकर गर्जना करता रहेगा। कहा जाता है कि चोरों का पीछा करने वाला एक पुलिस का सिपाही कलेक्टर के बंगले के दरवाजे के सम्मुख पहुँचते ही रुक गया। पर चोर बंगले के अहाते में घुसकर दूसरी तरफ भाग गया। जब पुलिस को दरवाजे पर रुक जाने का कारण पूछा गया तो उसने कहा, 'यह देखिए न; यहाँ यह साइनबोर्ड (पट्टी) लगा है कि 'बिना आज्ञा भीतर न आओ।' फिर मैं भीतर कैसे जा सकता हूँ ?"

यदि धार्मिक पुरुष राजनीति में प्रवेश करने से डरेंगे तो संसार से अधर्म का नाश करने की आशा ही नहीं रक्खी जा सकती। क्षुद्र स्वार्थमय राजनीति तो धार्मिक मनुष्य का विषय नहीं है, किन्तु धर्म-रक्षण की राजनीति तो धार्मिक मनुष्य का ही विषय है।

गुलामी के मूल

बहुतेरे मनुष्य मानते हैं—"अंग्रेजों की राज्य-पद्धति अच्छी है, अँग्रेजों का व्यापार अच्छा है, अँग्रेजी-शिक्षा लाभदायक है, अँग्रेजी समाज-रचना बहुत ही सुधरी हुई है, केवल अंग्रेजी स्वार्थ खराब है, इस स्वार्थ के ही कारण वे हमारी हानि करते हैं; इसलिए यदि उन्हें किसी तरह मजबूर करके उनमें एक बार इतना परिवर्तन कर दिया जाय कि वे हमें राज्याधिकार दे दें तो और कुछ भी न करना पड़े; फिर तो उन्होंने इन डेढ़ सौ वर्षों तक शिक्षा, समाज-रचना, व्यापार, सम्पत्ति-शास्त्र, कला, विज्ञान और राज्यतन्त्र आदि विषयों में जो रास्ता बतलाया है उसी रास्ते से धड़ाके से चले चलें, तो भी कोई आपत्ति नहीं है।" यह देखने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह के विचार रखनेवालों की संख्या कितनी है। वे थोड़े ही क्यों न हों किन्तु आज बहुतेरी हलचलों में उनका भाग है, और जन-साधारण इसी विचार-शैली के भ्रम में पड़ जाते हैं, क्योंकि विचार करने का कष्ट न करना सामान्य मनुष्यों का सनातन धर्म है।

परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है कि "अंग्रेजों के पास हर एक चीज अच्छी है। केवल स्वार्थवश ही वे हमें ठगते हैं।" ऐसा मानकर हम अंग्रेजों को दुष्ट कह डालते हैं। अंग्रेजों का

साम्राज्य विशाल है, संसार में बहुत जगहों में उनकी सत्ता है, केवल इतने पर से यह न मान लेना चाहिए कि जीवन की सफलता की चाबी उनके हाथ लग गई है। उनकी राज्य-पद्धति अनेक प्रकार से सदोष है, उनकी समाज-व्यवस्था में कितनी ही त्रुटियाँ हैं, उनकी शिक्षा से वे स्वयं ही बहुत असन्तुष्ट हैं, उनके व्यापार ने भले ही धन के ढेर लगा दिये हों, परन्तु उनमें से समझदार लोग तो यही स्पष्ट पुकार-पुकार कर कह गये हैं कि इससे उनका राष्ट्रीय जीवन बड़ा नीरस हो गया है। क्या हम ऐसे लोगों की नक़ल करें? अपने स्वार्थवश अंग्रेजों ने हमारी बहुत हानि की है, परन्तु हमारा भला करने की इच्छा से भी उन्होंने हमारी कम हानि नहीं की है। बेवकूफ़ शराबी अपने लड़कों को मार-पीट कर भी शराब पिलाता है। उसका हेतु तो शुद्ध ही होता है। खुद उसे मिलनेवाले 'अलौकिक' आनन्द का अनुभव अपने प्यारे बच्चे को दिये बिना उससे कैसे रहा जा सकता है? नागपुर में युवराज पधारे थे, उस समय एक अंग्रेज बैरिस्टर अन्त्यज परिषद् के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण में बहुत ही सद्हेतुपूर्वक कहा—'भाइयो! ये हलचल करनेवाले लोग तुम्हें व्यर्थ ही शराब से डरा रहे हैं। तुम जरा भी न डरो; उचित प्रमाण में तुम शराब अवश्य पीओ।'

और यदि हम मान लें कि अँग्रेजों की प्रत्येक वस्तु निर्दोष है तो भी वह उनके लिए निर्दोष होगी। हमारा स्वभाव, हमारी परम्परा और हमारा आदर्श सभी न्यारा है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं वह केवल इसलिए नहीं कि राज्य-सूत्र हमारे हाथ आ जायँ, वरन् इसलिए कि हमारे राष्ट्र की सर्वां-

क्षीण उन्नति हो। हमारी सच्ची उन्नति तभी हो सकेगी जब हम सभी चीजें इस ढङ्ग से चलावेंगे जो राष्ट्र के अनुकूल हो। यह ठीक है कि सरकार को महान् अन्याय करते देखकर हमने उसके साथ असहयोग किया। उसका राज्यतन्त्र, उसकी शिक्षा, उसकी अदालतें और उसके दिये हुए मान-सम्मानों का हमने त्याग किया। और यदि अब सरकार अपने पापों पर पश्चात्ताप करे, प्रायश्चित्त करे तो हम असहयोग को बन्द कर देंगे इत्यादि भी ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि फिर सरकार पुराने ही ढंग से चल सकेगी और हम उसका अनुकरण करेंगे। हमने अंग्रेजी प्रणाली के साथ तो निश्चित रूप से असहयोग किया है। हम अब शिक्षा तो राष्ट्रीय पद्धति से ही लेते रहेंगे। यदि सरकार पश्चात्ताप करके पवित्र होकर हमारे साथ सुलह करेगी तो हम सरकार से कहेंगे कि तुम्हें अब राष्ट्रीय ढंग से ही शिक्षा शुरू करनी होगी। अदालतों के विषय में कहेंगे कि तुम वही न्याय-पद्धति चला सकोगे जो प्रजा के अनुकूल होगी। जब हम राज्यतन्त्र में भाग लेंगे तब भी ऐसी शासन-पद्धति का विकास करेंगे जो प्रजा की प्रकृति के अनुकूल हो, प्रजा को जिस मनुष्य में आर्य-सद्गुण दिखाई देंगे उसी का वह उपाधि आदि द्वारा सम्मान करेगी और मान-सम्मान तथा उपाधियों के देनेवाले और लेनेवाले दोनों एक से ही मान-धनी होंगे।

प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थ के अतिरिक्त अपनी संस्कृति की भी हिमायती होती है। अंग्रेज सरकार हमारे धार्मिक विषयों और रीतियों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करती, किन्तु अपनी शिक्षा, अपनी अदालतों, अपने राजतन्त्र और राजमान्यता-द्वारा हिंदु-

स्तान के जीवन पर क्षण-क्षण विषैला प्रभाव डालती ही जाती है और हमें जड़ धर्म बतलाती जाती है। अचार के आम या नीबू में जिस प्रकार नमक धीरे-धीरे रँजता जाता है उसी तरह इन चारों वस्तुओं शिक्षा, अदालत, राज्यतंत्र और राज-मान्यता का प्रभाव प्रजाजीवन पर जड़ जमाता ही जाता है। किसी भी जाति या राष्ट्र को खाने के योग्य अचार बनाने के लिए इससे बढ़िया नमक नहीं मिल सकता।

यदि हमें जीना है, हमारे निजी ढंग से बढ़ना है और आत्मोन्नतिपूर्वक मानव जाति की सेवा करनी है तो इस खारेपन के साथ शाश्वत असहयोग करना चाहिए। पाश्चात्य संस्कारों के पक्षपाती इस विचार को जङ्गली विचार बतलाकर हमारी हँसी उड़ावेंगे, हम अङ्गरेज जाति के शत्रु हैं, इस तरह का अभियोग हमपर लगावेंगे और यह भी कहेंगे कि हम प्रगति रूपी घड़ी के काँटों को पीछे खिसकाते हैं। टीका कर-करके बात को उड़ा देने का प्रयत्न भी वे करेंगे, हमें हँस-हँसकर हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा को घटा देंगे। हमारा आत्म-विश्वास डिगाने का हरएक प्रयत्न वे करेंगे, हमें भूतकाल के उपासक कहकर पितृलोक में भेजने का प्रयास भी वे करेंगे। परन्तु हमें इन बातों से लेशमात्र भी न डरना चाहिए। हमारा विश्वास ब्रह्मचर्य के समान अजेय होना चाहिए। भविष्यकाल के सच्चे उपासक हमीं हैं। हम अपने प्राणों से जीना चाहते हैं। माँगे हुए प्राणों से आजतक कोई राष्ट्र न जिया और न जी सका। हम प्राणवादी हैं। भविष्यकाल हमारा ही है।

खाकी या खादी

एक लुहार था। वह अच्छी-अच्छी तलवारें तैयार करना जानता था। अनेक शूर जवान उसके घर जा कर उसकी खुशामद करके उससे तेज और पानीदार तलवारें ले जाते और लुहार की प्रशंसा करते थे। तलवारें खूब बिकीं, प्रत्येक मनुष्य को उस लुहार का और अपनी तलवार का अभिमान उत्पन्न हुआ और प्रत्येक को यह मालूम होने लगा कि मैं इस तलवार-द्वारा दुनिया की भलाई करूँगा।

प्रत्येक मनुष्य दुनिया की भलाई करने चला। सो भी उस तलवार के बल पर। तलवार हाथ में आने के बाद प्रत्येक को यही मालूम होने लगा कि मेरे मन में जो विचार आ रहा है वह दुनिया के लिए फायदेमन्द ही है! बल्कि उसे निश्चय होने लगा कि मेरे इस विचार से ही संसार का भला होगा। परिणाम-स्वरूप संसार का कल्याण करने के लिए सब के सब एक दूसरे के साथ लड़ने लगे, रक्त की नदियाँ बहने लगीं।

सबेरे ही अपनी प्रशंसा और 'जय-जयकार' सुन कर जो लुहार मारे हर्ष के पागल हो रहा था, वही शाम तक अपनी कृति का ऐसा उपयोग होता देखकर पश्चात्ताप और लज्जा का मारा अधमरा हो गया। उसने निश्चय किया कि अब से मेरे लिए लोहे को छूना भी हराम है।

पर इतने ही में उसे एक नया विचार सूझा। जितना लोहा उसे मिल सका उसने सभी को इकट्ठा किया, उसे तपाया और कूटकाट कर उसकी हल की नालें और हल के मुँह बना डाले; बस, उस दिन से युवक उसके पास से हल ले-ले कर जमीन जोतने

लगे और शाम को इकट्ठे हो कर प्रेम-भक्ति के गीत गाने लगे, और फिर उस लुहार की 'जय' बोली जाने लगी।

हिन्दुस्थान—भोला-भाला हिन्दुस्थान! शताब्दियों तक राज-नैतिक झंझटों से अजान, दुनियावी या आसुरी महत्वाकांक्षा से विमुख। और अल्पसन्तोषी रहा है। उसका यही सनातन आग्रह रहा है कि अपनी आवश्यकतायें घटा कर कम से कम की जायँ। अनिवार्य जरूरतों को पूरा करने के लिए सुगम से सुगम साधन खोज लिये जायँ, और जहाँ तक बन पड़े निर्दोष और निरुपद्रवी जीवन व्यतीत किया जाय।

पर इस काव्यमय धार्मिक जीवन का रहस्य लोगों को ज्ञान-पूर्वक नहीं ऊंचाया गया था; इसीसे हिन्दुस्थान सादा रहते हुए भी सुरक्षित नहीं रह सका। परदेश से चित्र, विचित्र और मोहक वस्तुओं के आते ही उसका दिल मचला। पहले हलके (तुच्छ) गिने जाने वाले दलों में मोह फैला और फिर उच्चता का अभिमान धारण करनेवाली उच्च जातियाँ भी मोह के फंदे में फँसी। कितनी ही बार तो यह उच्च दल ही पहले आगे बढ़ा, जरा ठहर कर उसने यह सोचा तक नहीं कि हमारे इस मोह का क्या परिणाम होगा। उसने तो बस जो आया सो लिया, जो प्रिय लगा उसको अपना लिया।

परन्तु अधःपात भी आसानी से नहीं होता। उसके लिए भी कितनी ही श्रेष्ठ वस्तुओं की बलि देनी पड़ती है। हिन्दुस्थान को स्वदेश-भक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेम को तिलांजलि देनी पड़ी। चाहे जिसकी ताबेदारी करके उनकी ओर से लड़ने के अधर्म को भी हिन्दुस्थान को स्वीकार करना पड़ा।

हिन्दुस्थान में हर एक जाति का कुछ विशिष्ट चिह्न होता है। धोती, पगड़ी और तिलक पर से मनुष्य की जाति जानी जाती है। उपर्युक्त ताबेदारी के धर्म के लिए खाकी पोशाक पसन्द की गई। खाकी रंग ने कुछ पाप नहीं किया। खाकी रङ्ग परिश्रम का रङ्ग है, जैसे गेरुआ त्याग-वैराग्य का रङ्ग है। परन्तु खाकी का अर्थ यह हुआ कि उसको धारण करने वाला अपने मालिक की आज्ञा शिरोधार्य करके लड़ने को तैयार है।

मनुष्य जिसके लिए लड़ता है उसके विषय में उसके मन में सकारण या अकारण आदर हो तब तक तो खाकी धारण करना बुरा नहीं गिना जाता। परन्तु जब हमने देखा कि खाकी के मानी हैं जलियाँवाला और गुरु-का-बाग, तब हमारे दिल से खाकी की प्रतिष्ठा उठ गई और हमने अपने जीवन को जाँच कर खादी की दीक्षा ली। जैसे खाकी का अर्थ है ताबेदारी वैसे ही खादी के मानी हैं पवित्रता, धार्मिकता और स्वतन्त्रता। खाकी में मैल ढकने का गुण है, खादी मैल को बरदाश्त नहीं कर सकती। मामूली दाग भी पड़ जाय तो खादी चिल्ला उठती है 'मुझे धोओ, मेरी शुद्धि करो, शुद्धि करो।' खादी के मानी हैं धार्मिकता, अद्रोह, अहिंसा, क्षमा और तेजस्विता; खाकी तलवार की प्रतिनिधि है खादी है प्रतिनिधि हल की।

राजनीतिज्ञ जो चाहें सोचते रहें, और सरकार भी जितना चाहे डर और लालच बतलावे। पर अब तो ईश्वर का आज्ञापत्र छूट चुका है कि अब से हिन्दुस्थान में खाकी धर्म का लोप होगा और खादी-धर्म का उदय होगा। किसकी ताब है कि वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध कर सके।

सच्चा सिपाही

कितने ही मनुष्यों के ख़याल में सैनिक होने के मानी हैं एक साथ कदम उठाना और यह जान लेना कि निशाना ताक कर बन्दूक कैसे चलाई जाती है। परन्तु यह भूल है। सैनिकों को अनेक प्रकार की कलायें सीखनी पड़ती हैं। खाई खोदना, चुनाई करना, किले बाँधना, पुल बनाना और तोड़ना, भोजन बनाना, रोगियों की शुश्रूषा करना आदि कितनी ही विद्यायें सैनिकों को जाननी अत्यावश्यक होती हैं। उनमें से किसी भी तरकीब में कमी हो, तो विजय के बदले ऐन वक्त पर पराजय मिलने का डर रहता है।

आज का सैनिक यह नहीं कह सकता कि राज का काम लश्करी पेशे को शोभा नहीं देता। देश के लिए एक बार लड़ना पसंद करते ही युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी करना पड़े वह सब उसे सीख लेना चाहिए, फिर वह उसे पसंद हो या नहीं। उसे तो वह करना ही पड़ता है। वह देश-सेवा का व्रती नहीं कहा जा सकता, जो कहता है कि जैसा मैं चाहूँगा उसी तरह देश-सेवा करूँगा; तब तो कहना होगा कि देश-सेवा तो सिर्फ उसका एक शौक है। जिस तरह सिपाही की पोशाक पहन कर, कंधे पर बन्दूक रख कर, पाँच-सात मील कूच कर आने मात्र से ही मनुष्य लड़वैया नहीं बन जाता; इसी तरह शौक के लिए

देश-सेवा करने से किसी को देश-सेवक की पदवी नहीं मिल सकती। देश-सेवा का सच्चा मार्ग तो मनुष्य को तभी मिलता है, या उसके गले उतरता है जब वह इस प्रश्न को छोड़कर कि उसे क्या पसन्द है यह देखने लगता है कि इस समय देश को क्या चाहिए। यही शुद्ध दृष्टि है।

वह मनुष्य तो देश-सेवा केवल शौक के लिए करता है जो कहता है कि मुझे वाद-विवाद करना पसन्द है, मैं वाद-विवाद कुशल हूँ, शब्द-समर में मैं प्रतिपक्षियों को परास्त कर सकता हूँ; इसके लिए मैं तो हमेशा सभायें ही करता रहूँगा। मैं तो वही कर सकता हूँ जो धारा-सभा में जाकर मुझसे हो सकेगा। वह मनुष्य भी देश-सेवा का व्रती सिपाही नहीं कहा जा सकता, जो कहता है कि मुझे रचनात्मक कार्य-क्रम में आनन्द नहीं आता, इसलिए मैं रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता; मुझे तो जिस समय युद्ध करना हो उस समय बुला लीजिएगा।

सच्चे सैनिक समाज-द्रोही नहीं होते। समाज-सुधार के कामों से उनके चित्त में अरुचि नहीं होती। युद्ध हमेशा टिकने वाली स्थिति नहीं है; देश में स्वावलम्बन, उद्योग और तेजस्विता की शिक्षा देना ही स्थायी प्रवृत्ति है। कोई भी देश अकारण परतन्त्रता में नहीं रहता। समाज में स्वराज्य-विघातक दुर्गुण बढ़ जाते हैं, तभी समाज परतन्त्रता में गिरता है।

कितने ही दुर्गुण तो स्वातन्त्र्य-युद्ध के शुरू करते ही नष्ट हो जाते हैं, पर कितने ही दोष ऐसे होते हैं कि वे जब तक न चले जांय तब तक स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। ऐसे दुर्गुणों का नाश स्वार्थी, आरामी अथवा स्त्रैण मनुष्यों से

नहीं हो सकता। उत्साही, शूर और निःस्वार्थी मनुष्य ही उन दुर्गुणों का नाश कर सकते हैं। इसलिए वह काम उन्हीं को हाथ में लेना चाहिए जो लड़वैये हों।

इसीका नाम है युद्ध की रचनात्मक तैयारी। रचनात्मक तैयारी तुम करो और युद्ध के समय मुझे बुलाओ, यह कहना और मेरे हाथ में बन्दूक भर कर रख दो, फिर मैं शिकार करूँगा, यह कहना एक-सा ही है।

वन्देमातरम्

हमने छोटेपन में पञ्चायतन के स्तोत्र सीखे थे। उनमें माताजी के स्तोत्रारम्भ में जब प्रथम मन्त्र 'नमो देव्यै' वाले श्लोक आते थे, तब हमारे मन में आदर और भय उत्पन्न होता था।

स्वदेशी की हलचल चली और नया मन्त्र आकर कान में टकराया — 'वन्देमातरम्'। दोनों का भाव तो एक ही है, किन्तु चित्त में मूर्ति न्यारी ही खड़ी हुई। वन्देमातरम् के साथ की माता के उपकार-सम्बन्धिनी बचपन में खड़ी हुई कविता स्मरण आने लगी। माँ खाने की चीज़ें पास में ले कर बैठी है, एक बालक आता है, दूसरा पीछे की ओर से आकर गले में लिपटता है, तीसरा साड़ी का अञ्चल पकड़कर खींचता है, एक बालिका माता के लम्बे किये हुए पैर पर आसन जमा कर बैठी है, और दो-चार बच्चे माँ के मना करने पर भी उसकी परवा न करके माता से दूर भागते हैं और एक दूसरे के साथ लड़ते हैं; इस तरह का चित्र चित्त में खड़ा रहता था।

इतने में बङ्गाल से राष्ट्रगीत आया —

सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज-शीतलाम्
सप्तकोटि-कण्ठकलकल निनाद-कराले,
बहुबल धारणीम्, रिपुदलवारिणीम् ॥

'नमो देव्यै' वाली अष्टभुजा 'महिषासुरमर्दिनी' के समान ही यह चित्र था। केवल महिषासुर के बदले हमारे समान दीखने वाले मनुष्य रिपु-दल का संहार करने वाली और काल्पनिक खर-कर-वाल हाथ में धारण करने वाली वह माता थी।

पाश्चात्य देशाभिमान की कल्पनायें ज्यों-ज्यों मन में पैठती गईं, त्यों-त्यों माता की मूर्ति अधिकाधिक उग्र होने लगी। माता के शरीर पर के आभूषण कम होने लगे। माता का वस्त्र लगभग फटा हुआ दीखने लगा। माता मेरा रक्षण करने वाली है, बचपन का यह भाव उड़ गया, और मुझे माता का रक्षण करना चाहिए, इस तरह का प्रौढ़ किन्तु अभिमानी भाव चित्त में आने लगा; और माता की करुण-दृष्टि से शत्रु का बदला लेने की प्रेरणा मिलने लगी।

आज वह मूर्ति कहाँ गई? वह अष्टभुजा महिषासुरमर्दिनी भी ध्यान में नहीं आती, और न वह रिपु-दल वारिणी दशप्रहरण-धारिणी माता ही रही। आज तो 'आसेतु हिमाचल' बिछी हुई सुजला, सुफला और मलयजशीतला माता ही का मानचित्र दृष्टि के सम्मुख खड़ा होता है। यह माता सुजला है, परन्तु बालकों को उस जल के लिए कर देना पड़ता है, सुफला है, किन्तु वे फल माता के बालकों को नहीं मिलते; और उस 'शीतल मलयज' में प्लेग, इन्फल्युएञ्जा के असंख्य जन्तु क्षुधातुर हो कर इधर-उधर दौड़ते और वृद्धि पाते दिखाई देते हैं। आँसुओं के जल से इन माता के चरण धोने को जी चाहता है। शरीर अर्पण करके इस माता की सेवा करने की आज प्रेरणा होती है। सम्पूर्ण देह का धूप बनाकर सर्वत्र शीतल मलयज फैलाने को चित्त चाहता है।

परन्तु × 'जाह्नवीयमुनाविगलित-करुणा-पुण्य-पीयूष' से माता नया ही ख्याल देती है। माता कहती है, तुम मुझे अनेक नामों से सम्बोधित करते हो, पर मुझे तो माता यही नाम प्रिय है। क्योंकि माता शब्द में मेरे बालकों का समावेश होता है। देवी कह कर तुम मेरे प्रकाश और प्रताप का स्मरण करते हो, बहुबलधारिणी कह कर तुम मेरा अभिमान धारण करते हो, परन्तु माता कह कर तुम मेरे सभी बच्चों का प्रेम प्राप्त करते हो। वन्देमातरम् इस वचन में जितनी मातृ-भक्ति है उतना ही भ्रातृ-प्रेम है, भगिनी-प्रेम है। तुम मेरी क्या सेवा कर सकते हो ? भाई-भाई सुख से रहो, प्रेम से रहो, एक-दूसरे की सहायता करो, एक-दूसरे के सुख-दुःख से सुखी और दुखी होओ। बस, इतने ही में मुझे सब-कुछ मिल गया। यही मेरी श्रेष्ठ पूजा है। वन्देमातरम् का अर्थ है 'सेवे भ्रातरम्'। तुम इतना समझ जाओगे तो मेरा वरद हस्त तुम्हें सभी ज्ञान देगा। और तुम देख सकोगे और जान जाओगे कि मैं अकेली ही माता हूँ। मेरा स्वरूप गूढ़ और विशाल है और तुम जितने बालक दिखते हो, वे मेरी ही सन्तानें हैं; तुम सभी सहोदर हो।

अन्त में वन्देमातरम् मन्त्र को प्रथम बार सुन कर जिस मूर्ति का दर्शन हुआ था, वही सच्चा है और माता को प्रिय है। हां, पर वह चित्र आदर्श तभी होगा जब सभी बालक माता को पहचानेंगे और सहोदर धर्म का पालन करेंगे।

× गङ्गा और यमुना के संगम से बहा हुआ दया रूपी पवित्र अमृत।

धर्म-भूमि

धर्म-भूमि

भारतवर्ष को हम अभिमानपूर्वक धर्म-भूमि कहते हैं। संसार के तमाम धर्म इस देश में बसते हैं। कितने ही धर्मों को इस भूमि ने जन्म दिया है। अन्य कितनों ही को आश्रय दिया है। और कितनों ही ने तो स्वयं ही अपने लिए इस भूमि में स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिए भारतवर्ष के लिए धर्म-भूमि नाम चरितार्थ हो गया।

परमात्मा ने किस उद्देश्य से इन तमाम धर्मों को इसी देश में इकट्ठा किया है? इतिहास-द्वारा परमात्मा की योजना का पता लगाने से ज्ञात होता है कि इस देश को उसका यही आदेश है कि यह सभी धर्मों का समन्वय करे, सभी धर्मों को एक कौटुम्बिक पाश में बाँध दे। इतिहास से हमें यह भी ज्ञात होता है कि जब-जब और जिस अंश में हिन्दुस्थान इस आदेश के प्रति वफादार रहा है तभी तब और उतने ही अंशों में उसकी उन्नति भी हुई है। भारतवर्ष का पुरुषार्थ इसी में है कि वह सब धर्मों को एकत्र, अविरोधी और परस्पर-पोषक बना दे। जब-जब उसने अपने इस पुरुषार्थ को भुला दिया, तभी तब उसे कष्ट सहने पड़े हैं। कई बार तो अपार शांति के कारण हमने अपने इस कर्त्तव्य को भुला दिया और कई बार विकारवश होकर हमने उसे छोड़ दिया। धर्मों का और जातियों का सवाल हजारों वर्षों से हमारे सामने है। अनेक रीतियों से उसे हल करने का हमने प्रयत्न

किया है। पर केवल एक ही मार्ग हमें उचित जँचा है—प्रेम-मार्ग। हमने कई बार वैर का सामना वैर से भी किया है। पर प्रत्येक बार क्षमा और प्रेम पर विश्वास रखनेवाली आस्तिकता ही सफल साबित हुई।

मुसलमान यहाँ पर आये, उस समय भारतवर्ष की जाति-संस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। प्राण क्षीण हो गया था। इसलिए हम उस धर्म का यथार्थ स्वागत नहीं कर सके। वे भी हमें नहीं समझ सके। मुसलमानों का स्वभाव हम से भिन्न था, रहन-सहन भी भिन्न थी। और आग्रह विलक्षण। केवल यही देखकर हमने यह तय कर लिया कि उनके साथ किस तरह व्यवहार किया जाय? फलतः गलतफहमी हुई, युद्ध छिड़े और रण-मैदान पर एक दूसरे को हमने पहचाना। कहना होगा कि इस युद्ध में दोनों की भारी हार हुई। आखिरकार परमात्मा की इच्छा के सामने सिर झुकाकर हम दोनों ने एक साथ रहने का निश्चय किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों इस बात को जान गये कि कोई भी जाति दूसरी जाति का नाश नहीं कर सकती। अतः सवाल यही रहा कि अब दोनों को हमेशा के लिए इसी तरह लड़ते रहना चाहिए, या भाई-भाई बनकर और हिलमिलकर। हिन्दू-मुसलमानों के बीच भाईचारा करने के प्रयत्न शुरू से होते आ रहे हैं। पर समस्त जनता तक फैलने में उन्हें बड़ी देर लगी। फलतः अन्त में जो एकता हुई उसमें एक भारी दोष रह गया। एक-दूसरे का पूरा परिचय तो हुआ ही नहीं था। अतः एकता दृढ़ नहीं हो पाई। धर्म तथा सामाजिक कल्याण के विषय में दोनों के बीच भिन्न-भिन्न कल्पनायें होते हुए भी हमने इस वृत्ति और शास्त्र

का विकास ही नहीं किया कि एकतापूर्वक किस तरह रहा जाय। इसीलिए आज हमें इतना कष्ट सहना पड़ रहा है और हिंदू-मुसलमान एकता का सवाल जो पहले हल हो चुका था फिर उलझन में पड़ गया है।

राष्ट्र की आत्मा कहती है एकता का तत्व, एकता का शास्त्र तो अहिंसा है। एक-दूसरे के दोषों को सह लेना, आपत्ति में एक-दूसरे की सहायता करना और प्रेम-धर्म के लिए सभी प्रकार के स्वार्थों को तिलांजलि देना यही एकता का एकमात्र मार्ग है।

आजकल की नास्तिक शिक्षा के युग में, जब कि प्रेम की अपेक्षा अधिकारों का ही अधिक विचार होता है, जब कि समाज-व्यवस्थापक का काम कानून और अदालतों ने अपने हाथों में ले रक्खा है, और वकील जनता के सलाहकार बने बैठे हैं,—इस युग में 'तिलांजलि देना,' 'सहन करना,' 'दिल उदार रखना' आदि शब्द समुच्चय दुर्बलता अथवा लोकोत्तर सद्गुण के द्योतक समझे जाते हैं। पर सच पूछा जाय तो समाज का अस्तित्व स्वार्थ और विग्रह पर स्थित नहीं है।

अगर हम फिर पारस्परिक मारकाट और युद्ध छेड़ देंगे तो हमें पुनःवही पुराना अनुभव महँगे मोल खरीदना पड़ेगा—दोनों जातियाँ क्षीण होंगी। कौल-करार के द्वारा विग्रह को शान्त करने का प्रयत्न यदि हम करेंगे तो उसमें भी हमारी निश्चित रूप से निष्फलता होगी। संसार का अनुभव तो यह है कि कौल-करार करने के आरंभ के समय की स्थिति इकरार पक्के होने तक भी नहीं टिकती। पारस्परिक विश्वास और प्रेम-भाव से ही एकता की ग्रन्थि बाँधी जा सकती है। और वही टिकी रहेगी।

जब तक हिन्दू और मुसलमानों में अविश्वास रहेगा तब तक इस बात का हिसाब जरूर होता रहेगा कि विपक्षी जाति के पास मनुष्य-बल कितना है? प्रत्येक पक्ष अपना बल बढ़ाने अथवा बढ़ गया है यह बताने की कोशिश बराबर करता रहेगा। भारतवर्ष में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम है। अतः यदि अविश्वास के वायुमण्डल में वे हिन्दुओं से डरें तो यह बात समझ में आने योग्य है। डरने वाला यदि व्यवहार-कुशल होता है, तो अपने डर को छिपाने के लिए वह सीना-जोरी का कवच जरूर पहन लेता है। अतः ऐसी परिस्थिति में एक-दूसरे के विपक्ष में संगठन करना एकता का सच्चा उपाय नहीं कहा जा सकता। बल्कि ठीक तो यही होगा कि प्रतिपक्षी को अपनी ओर से निर्भय कर दिया जाय। यदि हिन्दू और मुसलमान दोनों इस बात को समझ लें कि राष्ट्रीय व्यवहार में दोनों जातियों के हित-सम्बन्ध एक हैं तो वे हर तरह संख्या बढ़ाने की तकलीफ नहीं उठावेंगे। हमें जो धर्मतत्त्व प्राप्त हुए हैं, वे यदि हमें सर्वोच्च प्रतीत होते हैं, तो यह स्वाभाविक है कि उन्हें दूसरों को अर्पण करने की हमें इच्छा हो। पर यह तो है एक परोपकार का काम। भला इसमें हम जबरदस्ती से कैसे काम ले सकते हैं? शुद्ध भाव से यदि हम सभी धर्मों के मूल तत्त्व जनता के सामने रक्खें तो इसमें जरा भी अनौचित्य नहीं। पर हाँ, इसके लिए वायुमण्डल का शुद्ध और शान्त होना जरूरी है। यदि ऐसा वातावरण न हो तो हमारा पहला काम है वायुमंडल को शान्त और शुद्ध कर लेना। धर्म का पवित्र बीज प्रेम के शुद्ध क्षेत्र में ही बोया जा सकता है। धर्म में जबरदस्ती से कभी नहीं

काम लेना चाहिए। हिन्दू-धर्म के साथ-साथ कुराने शरीफ में भी इस बात का स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। धार्मिक अज्ञान और जातिगत अहंकार के कारण वायुमण्डल में जो विष फैला हुआ है उसके नष्ट हो जाने पर ही हम इस बात को देख सकेंगे कि हमारे हित-सम्बन्ध एक ही हैं। हिन्दुओं के तमाम हित-सम्बन्ध मुसलमानों के हाथों में और मुसलमानों के हित-सम्बन्ध हिन्दुओं के हाथों में सुरक्षित हैं। यह नहीं कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अथवा स्थानीय कारणों की वजह से कभी कोई बखेड़ा नहीं होगा। पर जब दोनों जातियों का हृदय निर्मल हो जायगा, तब प्रत्येक जाति के नेता उस पर अपना प्रभाव डाल कर निर्भयता-पूर्वक अपनी जाति को उसका कर्त्तव्य स्पष्टतया समझा सकेंगे। तब थोड़े ही प्रयास से हम तमाम झगड़ों को शीघ्र मिटा सकेंगे। यदि जाति कोई भूल कर रही हो या प्रेम की माँग को पूरी करने में हिच-किचाहट दिखा रही हो तब उसके नेता में इतनी हिम्मत और अधि-कार होना चाहिए कि वह उसे सख्त रीति से झिड़के और उसे कर्त्तव्य-मार्ग पर ले आवे। विपक्षी जाति का तो यही कर्त्तव्य है कि जबतक प्रतिपक्षी जाति में से अविश्वास पूर्ण रूप से नहीं उठ जाता तबतक किसी बात को उठा न रक्खे। जब किसी वस्तु का त्याग हम दुर्बलता-पूर्वक करते हैं तब हमारी दुर्बलता और भी अधिक बढ़ जाती है। पर विश्वासपूर्वक प्रेम-जात उदारता से किये हुए त्याग ने आज तक किसी को दुर्बल नहीं बनाया। प्रेम की शिक्षा प्रतिपक्षी को नहीं अपने आपको दी जाती है, और उस पर अमल किया जाता है।

पर यदि अन्त में बन्धु-प्रेम की विजय न हो तब? यह शंका

नास्तिकता की निशानी है। इस शंका पर जो समाज-शास्त्र या राजनीति निर्भर है वह विनाश-मार्ग की पथिक है। एक यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि प्रतिपक्षी यदि सीनाजोरी या दुराग्रह करे तब उसके सामने सिर झुकाना क्या दुर्बलता नहीं मानी जायगी? पर प्रेम यह कभी नहीं कहता कि जुल्म के सामने सिर झुकाया जाय। प्रेम-धर्म तो यही कहता है कि जुल्म के साथ प्रेम-पूर्वक जूझो, स्वार्थ और लाभ का जहाँ सवाल हो तहाँ उदारता-पूर्वक त्याग करना सीखो। जहाँ ज़बरदस्ती हो रही हो वहाँ उसका उत्तर बल-प्रयोग-द्वारा मत दो। जिन बातों का डर बताया जा रहा है, उनको शान्ति-पूर्वक सह लो। निर्भय होकर उनका आह्वान करो। भय छोड़ कर निर्भय बन जाना, और प्रेम से उदारता का विकास करना यही एकमात्र अत्यन्त व्यावहार्य और सरल से सरल तथा तात्कालिक उपाय है।

भारतवर्ष को हम अभिमान-पूर्वक धर्म-भूमि कहते हैं। पर वह केवल हिन्दूधर्म की धर्म-भूमि नहीं है। तमाम धर्मों की—धार्मिकता की भूमि है। यदि परमात्मा की योजना हो कि जिस प्रकार इस भूमि में इन धर्मों को आश्रय मिला है, उसी प्रकार उसी भूमि से उनको पोषण भी मिले तो इस में कोई आश्चर्य नहीं समझना चाहिए।

धर्म-संस्करण

कितने ही लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है इसलिए वही सब से अच्छा है। दूसरे कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे आखिरी है अतएव सबसे अधिक ताजा है। कोई कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ है। इसलिए उसमें सब-कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते हैं कि फलाँ किताब परमात्मा का संसार को दिया हुआ सबसे आखिरी धर्मग्रन्थ है, इसलिए उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकते।

सनातन-धर्मी दूसरी ही तरह से विचार करते हैं। सृष्टि का आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थों का भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि-अनन्त है। इसलिए वह सनातन कहा जाता है। सनातन के मानी क्या हैं? जो इस सृष्टि के शुरुआत के पहले था और जो उसके अन्त के बाद भी क़ायम रहेगा, वही सनातन है। इस अर्थ के अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातन का और भी एक अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावतः ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह तो मर जाता है। जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है। जिसको प्रगति नहीं है उसकी अधोगति बनी बनाई है। बँधी हवा बदबू करती है। जो पानी बहता नहीं है वह स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़ के पत्थर

बदलते नहीं इसलिए वे धीरे-धीरे चूर्ण हो जाते हैं। घास पुनः उगती है, बन की वनस्पतियाँ प्रतिवर्ष मरती हैं और फिर दूसरे साल उगती हैं। बादल खाली होते हैं और फिर भरते हैं। प्रकृति को नित्यनूतन होने की कला अवगत हो गई है इसीलिए वह हमेशा नवयौवना दिखती है।

सनातन-धर्म के व्यवस्थापक इस सिद्धान्त को जानते थे इसीलिए युगधर्म के अनुसार उन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मों की रचना की है। वे काल-माहात्म्य को जानते थे इसीलिए वे काल पर विजय प्राप्त कर सके। धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। पर उनका व्यवहार देश-काल के अनुसार बदलना पड़ता है। इस बात को जानकर ही धर्मकारों ने हिन्दू धर्म की रचना में 'परिवर्तन-तत्त्व' शामिल कर दिया। इसी कारण यह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सकता है। अनेक बार वह क्षीण-प्राण जरूर हुआ पर निष्प्राण कभी नहीं हुआ। मनुष्य की जड़ता के कारण कई बार उस में गन्दगी भी फैल गई, पर बिना किसी विप्लव के वह फिर पुनरुज्जीवित हो उठा।

सामाजिक व्यवस्था अथवा धार्मिक विधियों के पालन में कालानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक है। पर जब से हिन्दूसमाज में अबुद्धि ने अपना अड्डा जमाया है तब से वह (हिन्दूसमाज) ऐसे परिवर्तनों को शंकित दृष्टि से देखने लग गया है। एक ऐसी भीति और नास्तिकता हमारे अन्दर घुस गई है कि हम हर समय कहने लग जाते हैं कि, "क्या पूर्वजों की अपेक्षा हम अधिक होशियार हो गये ? पूर्वज तो त्रिकाल का विचार कर सकते थे। उनकी रचना में हम कहीं कोई परिवर्तन कर बैठेंगे तो शायद हम

संकट में पड़ जायँगे।" सच पूछा जाय तो इस तरह परिवर्तन से डरना सनातन धर्म के स्वभाव के ही विपरीत है। विचार-हीन उच्छृंखल परिवर्तन की तो हिमायत ही कौन करेगा ? पर अज्ञान के कारण डरकर निष्प्राण स्थिरता को खोजना पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपना छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना यह एक जुदी बात है; और अपना तथा परकीय धर्म दोनों को जाँच कर तुलना कर उस में आवश्यक परिवर्तन करना यह एक भिन्न बात है। प्रत्येक ज़माने में नवीन-नवीन संयोग हमारे सामने उपस्थित कर परमात्मा हमारी बुद्धि-शक्ति को आजमाने के लिए सामग्री उपस्थित करता रहता है और उसके द्वारा धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का परिचय हममें पुनःपुनः जाग्रत करता है। बाह्यआकार में यदि बार-बार परिवर्तन न हो तो आन्तरिक सच्चे स्वरूप का द र्शन असम्भव हो जाय। यदि हमारे जमाने में पूर्वजों की ही बुद्धि-हीन नक़ल हम करते चले जाँय; कुछ भी नवीन न करें, कोई आविष्कार भी न करें, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दि वन्ध्या साबित हुई।

प्राचीनकाल से ही हमारे देश में भिन्न-भिन्न धर्म और जातियाँ एकत्र रहती आई हैं। प्रत्येक बार ऐसे सहवास के कारण हमें भिन्न-भिन्न धर्म प्रवचन करना पड़े हैं। आवश्यकतानुसार एक ही धर्म-सिद्धान्त को, भिन्न-भिन्न शंकाओं और दोषों को दूर करने के लिए, भिन्न-भिन्न शब्दों में जनता के सामने उपस्थित करना पड़ता है। और इसीलिए यह धर्म अनेक कोण वाले तेजस्वी रत्नों के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया।

परकीय सत्ता की अधीनता में रहते समय धर्म को अत्यन्त

हीन और कृत्रिम वायु-मण्डल में दिन काटना पड़ता है। विरोधी लोग जिस समय आक्रमण करते रहते हैं तब भी धर्म-संस्करण का स्वाभाविक विकास नहीं होता। यही डर लगा रहता है कि हम कोई परिवर्तन करने जावें ,और उसी समय विरोधी लोग हमारी कमजोरी देखकर मर्माघात कर बैठें तब ? परकीय सत्ता स्वभावतः समभाव-शून्य होती है। वह रूढ़ि को पहचानती है, प्राण को नहीं। इसलिए वह कहती है कि, "पूर्वापर से तुम्हारे जो रिवाज चले आये हैं उन्हीं की रक्षा की जायगी। नवीन प्रथायें तुम शुरू नहीं कर सकते। न अपने स्थान से कहीं भी इधर-उधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवर को हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राण को राजमान्य कर दें तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेंगे ?" इस तरह समभाव-शून्य तटस्थता में सड़ी रूढ़ियाँ भी क़ानून की कृत्रिम सहायता से टिकी रहती हैं।

'हिन्दू-ला' पर अमल करते समय प्रति पद पर यही स्थिति विघ्न उपस्थित करती है। न्यायमूर्ति तेलंग ने इस स्थित के ख़िलाफ़ कई बार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाज को अपनी व्यवस्था में फेर-फार करने के अधिकार का होना तो बड़ा जरूरी है। पर यह करने के लिए आवश्यक स्वाधीनता, एकता और योजना-शक्ति का भी समाज में होना नितान्त आवश्यक है। बड़े से बड़ा त्याग करके हमें उसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिए। यदि हिन्दू-धर्म को प्राणवान बनाये रखना है, संसार में उसे अपना स्वाभाविक स्थान पुनः प्राप्त करना है, यदि उसे "समाज-कल्याणकारी बना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमें उसकी गंदगी को धो डालना चाहिए।

कितने ही ऐसे खयालात और रूढ़ियाँ हमारे समाज के अन्दर बद्धमूल हो गई हैं कि जो धर्म के सनातन सिद्धान्तों के विपरीत हैं और जो समाज की प्रगति में बुरी तरह बाधक हो रही हैं। उन सबकी हमें एकदम होली कर देना चाहिए।

अस्पृश्यता इन्हीं बुराइयों में से एक है। जातिगत अहंकार और संकुचित प्रेम दूसरी बुराई है। जहाँ रूढ़ि के नाम पर दया-धर्म का खून हो रहा हो, जहाँ आत्मा का अपमान हो रहा हो, जहाँ धर्म-प्रीति के बदले लालच और भीति को स्थान दिया जा रहा हो, वहाँ धर्म को इन बुराइयों के खिलाफ़ अपनी बुलन्द आवाज उठानी चाहिए। सरकारी अधिकारियों को रिश्वत देकर अपना मतलब गांठने वाले लोग एक परमात्मा को—ईश्वर को छोड़-कर उसके बदले अनेक भयानक शक्तियों को लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। जो हुकमी, तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधिकारियों की अधीनता में रह कर भामदे बने हुए लोग देव-देवियों का स्वभाव भी उन्हीं के जैसा समझकर उनके प्रति भी भय-वृत्ति का विकास करने लगे; और इस तरह अपने धर्म में अधर्म का साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायण से लगा कर कालभैरव तक सभी देवताओं को हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारकायें, ग्रह, जंगल के वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाई-बन्धु, पशु-पक्षी, उषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर प्रत्येक स्थान पर, जहाँ कि हमारे ऋषि उस परम मंगल की प्रेममय विभूतियों का साक्षात्कार करते थे, उनके साथ आत्मीयता और एकता का अनुभव करते थे, वहाँ आज हमें भय, भय और सिवा भय के और कुछ दीखता ही नहीं। धर्म का शुद्ध

और उदात्त तत्त्व जाननेवाले लोग हमारे विधि-विधानों के अन्दर रहनेवाले काव्य को देख सकते हैं। परन्तु अज्ञ जन-समुदाय काव्य को सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मान कर विचित्र अनुमान करते हैं और उन्हीं को पकड़ बैठकर धर्म का कार्य विफल कर डालते हैं।

आज हिन्दू-धर्म का उत्कर्ष चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का यही प्रथम कर्तव्य है कि वह इस बात का उद्योग करे कि उसके समाज में धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। जिसमें सत्य की निर्भयता नहीं, त्याग की अक़्लमन्दी नहीं, उदारता की सुगन्ध नहीं, वहाँ धर्म हुई नहीं—यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना और लोगों को समझाना भी चाहिए। हिन्दू-धर्म के संस्करण का समय आ गया है क्योंकि उस पर जमी हुई गर्द उसका दम घोंट देने को है।

अन्त्यज-सेवा

जिसमें समभाव नहीं वह सेवा नहीं कर सकता। समभाव के मानी दया नहीं, परोपकार करने की वृत्ति नहीं, बुजुर्गी, शिष्टता नहीं, समभाव का अर्थ है प्रेम की समानता, समभाव का अर्थ है आदर; समभाव का अर्थ है जानने की इच्छा; समभाव का अर्थ है भावना और आदर्श की समानता।

अन्त्यजों को या अन्य किसी भी जाति की सेवा कहिए समभाव ही से होनी चाहिए। अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कार से भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञान से भी सेवा कर सकता है; परन्तु वह सच्ची सेवा नहीं। एक कहानी है। एक स्त्री ने देखा कि उसके सोये हुए पति के गाल पर एक मक्खी बैठी है; उसने सेवा-भाव से उस मक्खी को इतने ज़ोर से एक चांटा लगाया कि पति के गाल से खून निकलने लगा।

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य इन सभी के विषय में अपने दिल में असीम तिरस्कार धारण करने पर और बहाने पर भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी मानते हैं और हमें अनुभव भी है कि उनकी सेवा हमें कितनी प्यारी और हितकारिणी है, जो परदेश से आकर अपनी आद्यता का

सिक्का जमाना चाहते हैं ! उनकी सेवा से हमें ऐहिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु उससे हमारा आत्म-हनन ही होता है। जो हममें मिल कर हमारे बन कर रहते हैं, हमें समझने की कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्ग से काम करते हैं, वेही हमारे गुण-दोष समझ सकते हैं। हमारे गुणों से वे प्रसन्न होते हैं और उन्हें विकसित करने के लिए सहायता करते हैं। हमारे दोषों से वे लज्जित होते हैं और उन्हें दूर करने के हमारे प्रयत्नों में प्रेम और समभाव से सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक बने रहना चाहते हैं, उनका आदर-सम्मान करने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते।

जो अभिमानी होते हैं, अज्ञानी और लापर्वाह होते हैं, वे अच्छे-बुरे की अपनी कसौटी साथ-साथ लिये घूमते हैं। जो उन्हें अच्छा न लगता हो उसे हमें छोड़ देना चाहिए फिर चाहे वह हमें कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। उसी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह कितना ही अनुचित हो तो भी हमें धारण करना चाहिए। चिकनी मिट्टी के घोड़े को तोड़ कर हमें यदि उसका साँप या गणपति बनाना हैं तो पुरानी आकृति को तोड़ कर हमें उसे बिलकुल नया आकार देना पड़ता है। उसी प्रकार वे हमारे समाज को भी समझते हैं। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नहीं, और यदि हो भी तो परकीयों के लिए कदापि नहीं।

जो नियम हमारे लिए हैं वे ही अन्त्यजों के लिए भी हैं। आराम-कुरसी पर बैठ कर हम निश्चित करते हैं कि, अन्त्यजों के लड़कों को इस तरह की पोशाक पहननी चाहिए। उन्हें इतने विषय जानने चाहिए, इतने उद्योग सीखने चाहिए; और अमुक-अमुक विचारों को छोड़ देना चाहिए, अथवा धारण कर लेना चाहिए।

अन्त्यजों के लड़कों को लेकर चिकनी मिट्टी के समान उन्हें अपनी कल्पना के अनुसार हम बना लेना चाहते हैं।

"अन्त्यजों का और हमारा धर्म एक ही है। हम दोनों एक ही समाज के अंग हैं। हम अनादि काल से अन्त्यजों के प्रत्यक्ष गुरु नहीं तो उनके अगुआ तो जरूर ही हैं। वे हमारे आश्रित, हम उनके मुरब्बी, यह सम्बन्ध चला आता है, और इसीलिए अन्त्यजों के उद्धार का मार्ग निश्चित करने का अधिकार और योग्यता भी हम रखते हैं" इस तरह का यदि कोई दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नहीं। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजों का उद्धार करते-करते अपने समाज से भी अलग हो गये हैं। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नहीं किये। हमने अभी यह भी निर्णय नहीं कर लिया कि समाजिक जीवन में कौन-सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है उसे सरलता से तोड़ने में लगे हैं, परन्तु हमने अभी तक इसका विचार नहीं किया कि उनकी जगह पर नया क्या उपस्थित किया जाय, अथवा क्या उपस्थित किया जा सकता है। और अन्त्यजों के सुख-दुःख में उनके सहयोगी। बनकर उनकी जीवन-यात्रा हलकी कर देने की बात तो हमें अभी तक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह उनके भाग्य-विधाता बनेंगे ?

इसका यह अर्थ नहीं कि, हम उनकी सेवा ही नहीं कर सकते। पर सेवा करने के पहले हमें उनका हृदय, उनकी ठीक-ठीक स्थिति जान लेना जरूरी है। उनकी शक्ति और अशक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। उनकी मन्यताओं के आधारभूत कारणों को खोजना चाहिए। उनकी धारणाओं और रिवाजों की जड़ में महत्व-

पूर्ण कारण होते हैं। हमें इसका पता लगाना चाहिए कि वे कारण कौनसे हैं। जिन्होंने अन्त्यजों में थोड़ा-बहुत काम किया है, उनका अनुभव जान करके अत्यन्त नम्रता से और समभाव से अन्त्यजों की सेवा का श्रीगणेश करना चाहिए।

अन्त्यजों की अस्पृश्यता दूर करते ही उनके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जयँगे। स्पृश्य समाज में मेल-मिलाप बढ़ते ही अनायास उन्हें कितने ही संस्कार मिलने लग जावेंगे। उनका उत्तरदायित्व बढ़ जायगा, जिसको निबाह लेने के लिए हमें उन्हें समभावपूर्वक सहायता करनी चाहिए।

और खासकर यह ध्यान में रखना चाहिए कि, जहाँ-जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाज में सम्मिलित हों वहाँ-वहाँ अन्त्यजों के स्वभाव में इतनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग उनका प्रेमपूर्वक स्वागत करने लग जायँ। अन्त्यज-सेवकों को इसकी खूब चिंता रखनी चाहिए। अन्यजों की जाति के प्रति जो रूढ़ तिरस्कार है उसके स्थान पर यदि पढ़े लिखे अन्त्यजों की उद्धतता के कारण समाज में नया तिरस्कार उत्पन्न हो जायगा तो उसे दूर करना कठिन होगा। कई लोगों के मन में अस्पृश्य भावना का अंश मात्र भी नहीं होता। गन्दे, शराब पीने वाले मेहतरों के साथ भी वे बन्धु-प्रेम से बातें कर सकते हैं किन्तु ऐसे लोगों के लिए भी कई बार कितने ही पढ़े-लिखे और उद्धत अन्त्यजों की भाषा और उनकी अपेक्षायें-आशायें बरदाश्त करना कठिन हो जाता है। यह दोष है उस शिक्षा का जो हमने उन्हें दी है। हम अन्त्यजों को स्पृश्य समाज में स्थान देना चाहते हैं, वह उनका हक भी है। छूत पाप है, अन्याय भी है, परन्तु उस अन्याय को दूर करने के लिए

स्पृश्य समाज का अपमान कर उनके साथ तुच्छता का बर्ताव करके अन्त्यज अपना कल्याण नहीं कर सकते। अभीतक जिस नम्रता को भय या अज्ञान के कारण धारण किया था, उसी को अब उन्हें ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान—पूर्वक धारण करना चाहिए। वहम और भय के त्याग की जरूरत है, नम्रता के त्याग की नहीं। जिस प्रकार वकील-मुअक्किल का पक्ष लेकर उसे लड़ाते हैं; उसी प्रकार यदि हम अन्त्यजों का पक्ष लेकर उन्हें स्पृश्यवर्ग के साथ लड़ा देंगे तो उससे कुछ दिन तक हम अन्त्यजों में भले ही लोकप्रिय हो जायँगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा, किन्तु यह समाज-सेवक का पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्य के लिए यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म कोई वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। उस समाज की व्यवस्था में हम जब कभी हाथ डालेंगे तब हमें वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर-भक्ति और नम्रतापूर्वक करना चाहिए। नहीं तो समाज-द्रोह का पाप हमारे सिर पर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष ईश्वर का ही द्रोह है। यदि इसमें भेद भी हो तो ईश्वर की दृष्टि से प्रभु-द्रोह की अपेक्षा समाज-द्रोह ही अधिक खराब है। प्रभु-द्रोह पर क्षमा हो सकती है—सदा होती है। परन्तु समाज-द्रोह—बन्धु-द्रोह का प्रायश्चित्त जमानों तक—शताब्दियों तक करना पड़ता है।

मज़दूर का धर्म

अभी अभी तक हिन्दुस्तान में अधिकांश मजदूरों का वर्ग ही नहीं था। देश का अधिक हिस्सा किसानों ही का था। आज भी किसानों का प्रश्न ही सब से अधिक महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार यूरोप में मज़दूरों की समस्या जटिल है उसी प्रकार हमारे यहाँ किसानों की समस्या है। यदि किसी दल पर सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानों ही पर। गुजरात के किसानों की स्थिति से बङ्गाल, महाराष्ट्र या संयुक्त प्रान्त के किसानों की स्थिति ज्यादा ख़राब मालूम होती है। आज मिलों के कारण जो मजदूर-दल उत्पन्न हुआ है, वह अधिकांश में किसानों के दल से ही उत्पन्न हुआ है। जब किसान को खेती पसन्द नहीं आती और उसको देहात् की दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती है तब वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् एक तरह से मजदूर-दल खेती की निष्फलता की निशानी है।

× × × ×

मनुष्य की मुख्य आवश्यकतायें दो हैं—अन्न और वस्त्र। उसमें किसान अन्न उत्पन्न करता है और हरएक मनुष्य उसे पका कर खाता है। हरएक मनुष्य अपने-अपने घर में सूत काते और जुलाहा उसे बुन दे, यही प्राचीन प्रणाली थी। सूत कातना और अन्न राँधना, यह हरएक कुटुम्ब का नित्य कर्म था। खेती

और वस्त्र-व्यवसाय ये देश में बड़े से बड़े उद्योग थे। इनको छोड़कर जो कुछ भी समाज का काम होता, उसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरों का काम ही न पड़ता था। हरएक कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथ से कर लेता था जो उससे बन सकता था। उससे भी अधिक आ पड़ता तो अपने पड़ौसी की सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाज में विवाह आदि प्रसङ्गों पर एक दूसरे के यहाँ एक ही जाति के पुरुष और स्त्रियाँ इकट्ठी होती हैं और लड्डू या पापड़ बना लेती हैं। एक ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद-वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते हैं। इस तरह हमारी व्यवस्था में परिश्रम भी एक प्रकार का उत्सव बन जाता है।

× × × ×

किसान को प्रकृति के साथ मिलने का आनन्द मिलता ही है। हल या पटहा चलाते समय किसान लोग आनन्द से ललकारें लगा-लगाकर गीत गाते हैं। जुलाहा भी ढोटे की ताल पर अपने कण्ठ की तानें छेड़ता रहता है। कारीगरों को कला की उत्तम वस्तु तैयार करने में निर्दोष आनन्द मिलता है। इतना ही नहीं, वरन् खेत में लुनने के समय, या घर में छत या पलस्तर करते समय, टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग संगीत का आनन्द लेते हैं। आज मजदूर-वर्ग को मिल में जिस तरह का काम करना पड़ता है वैसा आत्मघातक काम पहले के मजदूरों को कभी न करना पड़ता था। जिसको खुद परिश्रम में आनन्द नहीं मिलता उसे आनन्द-प्राप्ति के बाहरी साधन खोजने पड़ते हैं। और ऐसी मजदूरी करने वालों का समाज यदि संस्कारी न हो तो वह

स्वभावतः चाहे जहाँ से मानमाना आनन्द प्राप्त करने को ललचेगा।

× × × ×

मजदूरी या शारीरिक परिश्रम ये दोनों पवित्र से पवित्र उद्योग हैं। आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मजदूरी के आशीर्वाद हैं। मजदूर का जीवन दूसरे सभी उद्योगों की तुलना में अधिक निष्पाप होता है। यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह सुगमता से अस्तेय और अपरिग्रह व्रत का पालन कर सकता है और उसी में अहिंसा भी वर्तमान है।

मजदूर का पेशा जितना पवित्र है, उतना ही संमानपूर्ण है। हाँ, हरएक मजदूर को इस बात का विचार जरूर करना चाहिए कि, वह किस कारण-वश और किस शर्त्त पर मजदूरी कर रहा है। मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तु को बना रहा है वह समाज के लिए आवश्यक और धर्म को मान्य होनी चाहिए। मजदूर को मजदूरी करते हुए अपनी स्वतन्त्रता को खो न बैठना चाहिए।

× × × ×

फीजी अथवा दक्षिण आफ्रिका के मजदूरों को गिरमिटिया कहते हैं। ये अपने सेठ, या अपने काम को पसन्द नहीं कर सकते। शर्तों से बंधे हुए होते हैं। इसीलिए उन्हें शर्त्तबन्द कहते हैं। कुली भी अपमान-जनक नाम है। दैनिक मजदूरी लेकर कार्य करने वाले को मजदूर कहते है। बम्बई में मजदूरों का नाम है कामदार। यह शब्द मजदूरों में जागे हुए आत्म-सम्मान का सूचक है। अमेरिका में मजदूरों को 'हेल्पस' या मददगार (सहायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परावलंबी

है, पंगु है और मजदूर अपने काम का पारिश्रमिक लेते हुए भी समाज-सेवा करता है यह भाव इस नाम में समाविष्ट है। मराठी में मजदूरों के लिए पुराना शब्द 'गड़ी' है। गड़ी अर्थात् दोस्त, भिडू या साथी। परिश्रम में सब समान हैं, परिश्रम में भ्रातृ-भाव वर्तमान है, और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्ग का समवयस्क है। यह सभी अर्थ-छाया 'गड़ी' शब्द में एकदम आ जाती है।

दूसरे उद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहित का विचार करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझकर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन करते हैं, उसी तरह मजदूरों को भी करना चाहिए। जिस मनुष्य को परिश्रम करने का अभ्यास है, वह सच पूछा जाय तो समाज का राजा है। वह किसी पर निर्भर नहीं, बल्कि दूसरे लोग ही उसपर निर्भर रहते हैं। हरएक मजदूर इस बात को जानता है कि द्रव्यवान् लोग उसपर अवलम्बित रहते हैं। वह इस बात को जानता है। इसीसे वह कई बार दूसरे की असुविधा देखकर अधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हित को बराबर समझ लें तो वे अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने ही में अपनी शक्ति का व्यय न कर डालेंगे, वरन् अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनता बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। एक मामूली कारिन्दे की अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त होता है और उसकी तुलना में अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी कारिन्दा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को सम्पादन कर सकता है, किन्तु मजदूर से अभी यह नहीं होता।

सच देखा जाय तो मजदूर मालिक का आश्रित नहीं, बल्कि मालिक ही मजदूरों का आश्रित है। मजदूरों की पूँजी उनके शरीर में है और वे उसे अपने साथ में लेकर घूम सकते हैं। उन्हें इसका बोझ नहीं लगता। मालिक तो पूँजी के पीछे बँधा होता है और इसीसे वह एकता में बँधे हुए मजदूरों के सम्मुख आश्रित के समान ही होता है।

× × × ×

मजदूरों का उद्धार तो तभी होगा जब वे इस बात को जानने लग जावेंगे कि हम समाज की किस तरह विशेष सेवा करते हैं— समाज-व्यवस्था में हमारा स्थान कहाँ है, तथा समाज के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मज़दूरों को शिक्षा की आवश्यकता है। इस बात को मजदूर शिक्षा से ही समझेंगे कि देश की और संसार की स्थिति कैसी है, और उसमें मजदूर अपनी इष्टसिद्धि किस तरह कर सकते हैं। मजदूर-वर्ग समाज को आबाद, और बरबाद भी, कर सकता है।

श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी

उदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवा के जो अनेक पेशे हैं उनके सामान्यतः दो भाग किये जा सकते हैं। एक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, कुम्हार, गुमाश्ता ये तो श्रमजीवी हैं। पुरानी पूँजी के सूद पर अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला एक तीसरा वर्ग भी होता है। जो बिना किसी सेवा के समाज में रहना चाहता है। पर न तो उसे पेशाकार न समाज-सेवक कहा जा सकता है। पेशाकारों के तो केवल दो ही वर्ग हैं—श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशों में इन दो पेशों में से श्रमजीवी पेशे की अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशे को अधिक ऊँचा मानने की मिथ्या प्रथा हो गई है।

हमारे देश में तो श्रमजीवी पेशे को बिलकुल नीचा मानने की प्रथा बहुत पुराने समय से ही चली आई है जिसके कारण हमारे समाज को असीम हानि हुई है।

आज भी मनुष्य शिक्षा इसी उद्देश से प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करने की सजा से बच जाय। एक दिन मैं सिंध में अपना स्नानगृह साफ कर रहा था। यह देख एक प्रख्यात धर्मोपदेशक मुझसे पूछने लगे "अजी ऐसा काम करना था तो इतनी अङ्गरेजी क्यों पढ़ी ? चार इल्म पढ़े हैं, फिर भी अपने हाथ से काम कर रहे हैं। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।" भारतवर्ष की अतीत भव्यता के दिनों में हम लोगों के ये विचार नहीं थे। भारतवर्ष के विद्यार्थी अपने गुरु के मकान पर पशु के जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे ऊबते न थे और न शर्माते थे। उपनिषद्

के आचार्य गुरु के गृह पर गौओं का चराते थे। श्रीकृष्ण गुरु-गृह पर रोज जंगल से लकड़ी की मोलियाँ लाते थे। विद्यापीठ के पण्डित लोग अवकाश मिलने पर पत्तलें बनाते थे। कोई यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करने से बुद्धि का कोई उपयोग नहीं होता या प्रतिष्ठा को हानि पहुँचती है। शारीरिक परिश्रम एक आवश्यक यज्ञ समझा जाता। इसलिए लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम-से-कम अपने शरीर को सर्व-कार्य-क्षम बनाये रखने के लिए सभी प्रकार के परिश्रम करने की आदत बनाये रखते। धर्म-शास्त्रकारों की आज्ञा थी कि बंजर जमीन की झाड़ी वग़ैरा कट जाने पर उसपर पहला हल तो राजा को ही चलाना चाहिए। क्योंकि तब राज्य का आद्य किसान राजा ही समझा जाता था।

इस प्रथा के कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गों के बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता था। बुद्धिमान् और धनवान् लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्ग की क़द्र करते और दोनों वर्गों के बीच संस्कारों का विनिमय होता रहता था। इसी जमाने में यह कहावत प्रचलित थी कि "किसान के शरीर पर लगी हुई मिट्टी को झाड़ दो और उसे राजवस्त्र पहना दो कि वह राजा बन जाता है।" राजोचित संस्कारों की न्यूनता उसमें कभी रहती ही नहीं थी। इसलिए उस जमाने में प्रत्येक जाति में शूर सरदार पैदा होते थे। देश की रक्षा कैसे होगी, यह कायरचिंता किसी के चित्त को स्पर्श तक नहीं कर सकती थी। और जाति-जाति के बीच शायद ही कभी वैमनस्य होता था।

आज तो अंग्रेजी राज्य के कारण अथवा इससे पहले ही से

पढ़े-लिखे और अपढ़ों का भेद तो चला ही आया है। पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है। बुद्धिजीवी मनुष्यों को शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता हो अथवा श्रमजीवियों को बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता हो सो बात भी नहीं। फिर भी उपर्युक्त भेद तो स्पष्ट ही है। आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृति के जमाने में एक वर्ग के प्रयास दूसरे वर्ग तक पहुँच ही नहीं पाते। श्रमजीवी लोगों के सुख-दुःखों के विषय में बुद्धिजीवी लापरवाह भले ही न हों पर अनजान तो जरूर रहते हैं। बुद्धिजीवी लोग अपनी हलचलों का रहस्य श्रमजीवी लोगों को उनकी अपनी भाषा में नहीं समझा सकते। इसलिए स्वराज्य के विषय में भारतवर्ष में इतनी तीव्र उत्कंठा होने पर भी हम अपनी शक्तियों को एकत्र नहीं कर सकते।

इसका तो एक ही उपाय है। श्रमजीवी लोगों में शिक्षा का प्रचार। और बुद्धिजीवी लोगों में परिश्रम की प्रतिष्ठा। श्रमजीवी लोगों में शिक्षा का प्रचार करना चाहे कितना ही कठिन हो वे तो उसके लिए तैयार ही हैं। यदि बुद्धिजीवी लोग श्रम करने को तैयार हो जायँ तो उनके लिए भी कोई काम कठिन नहीं रहेगा। पर उनको यह बात बड़ी अटपटी मालूम होती है। इन दो वर्गों के बीच जबतक सहयोग नहीं होगा; तबतक स्वराज्य के लिए कहिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए कहिए, राष्ट्र की शक्ति को एकत्र करना दुष्कर है। शारीरिक परिश्रम के प्रति अरुचि होना बुद्धिजीवी लोगों के लिए एक सार्वत्रिक रोग-सा हो गया है। यह अनुमान नहीं, अनुभव की वाणी है।

स्वराज्य की योजनायें तो हम चाहें जितनी बना सकते हैं। भला उर्वर मस्तिष्क में योजनाओं की भी कमी हो सकती है? पर उनपर अमल कौन करेगा? स्वराज्य-स्थापना के लिए आवश्यक मिहनत हम प्रस्ताव पास करके सरकार से तो नहीं करा सकते। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता हो उसी को परिश्रम की दीक्षा लेनी चाहिए, श्रमजीवी लोगों का-सा जीवन व्यतीत कर उनके प्रति हमें समभाव का विकास करना चाहिए। तभी इन दो वर्गों के बीच का अंतर कम होगा। और स्वराज्य कार्य की कुछ बुनियाद पड़ेगी। जिस तरह दूसरे से कसरत कराकर मैं बलिष्ठ नहीं हो सकता उसी प्रकार अपने एवजी या प्रतिनिधि को श्रम-दीक्षा नहीं दी जा सकती। यदि कोई कहता है कि मुझे स्वराज्य चाहिए तो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता जबतक वह स्वयं परिश्रम करने नहीं लग जाता। जिसने स्वराज्य के लिए श्रम-दीक्षा ले ली है वही स्वराज्य का भूखा कहा जा सकता है। प्रजा की शक्ति का विकास और संगठन करने का यही एकमात्र उपाय है।

यह बात समझ में आने पर 'महासभा' का सभ्य होने के लिए कातना आवश्यक है, इस नियम का अर्थ समझने में किसी को देर नहीं लगेगी। हम गत ३५-४० वर्ष से कहते आये हैं कि स्वदेशी में ही स्वराज्य है। उस स्वदेशी को यदि हम इतने वर्षों में भी सफल नहीं कर बतावेंगे तो कहा जायगा कि हमने अपने देश की बुद्धि और कर्तृत्व-शक्ति दोनों को अपमानित किया है। स्वराज्य-स्थापना में जो विलम्ब हो रहा है उसको दूर करने का यही एकमात्र मार्ग है कि महासभा को सर्व-संग्राहक बनाने के लिए सभी पक्ष स्वेच्छापूर्वक इस वस्तु का सम्पूर्ण स्वीकार करें।

प्रेम का अधिकार

प्रत्येक विद्यार्थी अपने घर का एक प्रिय रत्न होता है। माता-पिता अपने लड़कों को प्रसन्न रखने के लिए उनके अनुचित हठों को भी पूरा करते हैं। एक-दूसरे को सन्तुष्ट रखना यह हर एक घर का मुख्य नियम है। मनुष्य पोशाक की जो इतनी चिन्ता रखता है वह भी दूसरे का सन्तोष और आदर प्राप्त करने ही के लिए। समाज में जो वस्तु प्रतिष्ठित गिनी जाती है उसका सभी सेवन करते हैं।

अन्तिम बीस-पचीस वर्षों का मेरा अनुभव है कि समाज में कौनसी चीज़ प्रतिष्ठित गिनी जाय और कौनसी नहीं, इसका निर्णय प्रौढ़ विद्यार्थी ही करते आये हैं। कालेज में जाकर अँग्रेज़ी शिक्षा लेने वाला विद्यार्थी जिस पोशाक को पसंद करता है वही समाज में रूढ़ होती चली आयी है। बोलने-चालने का जो ढङ्ग वह उपस्थित करता है, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते आये हैं।

सामाजिक रीति-रिवाजों का नेतृत्व विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ ज़रूर, किन्तु वे खुद ही स्वतन्त्र न थे। विलायती ढङ्ग का अनुकरण करने की ओर ही प्रायः उनका झुकाव रहा। अब उसमें राष्ट्रीयता आ गई। अब समझने लग गये हैं कि स्वाभिमान की रक्षा ही में पुरुषार्थ है। स्वदेशी रिवाज, स्वदेशी मान्यतायें, स्वदेशी पोशाक और स्वदेशी रहन-सहन में काव्य और सुन्दरता भी है, इसे अब वे मानने लगे हैं। वे घर में और उसी प्रकार समाज

में भी एक नया ढङ्ग शुरू कर सकते हैं। यदि वे खादी का ही आग्रह रक्खेंगे तो घर में माता, पिता, भाई, बहन आदि कोई उन्हें अप्रसन्न न करेंगे। जिस बालक या युवक ने अपनी सुशीलता से घर के सभी लोगों का मन चुरा लिया है उसकी सत्ता असाधारण होती है। सुशील लड़के को अप्रसन्न करने का साहस किसी में भी नहीं होता। अपनी पसन्दगी घर वालों पर भी लादना यह उसका प्रेम का अधिकार है। लड़के यदि ऐसी पोशाक का आग्रह करें कि जिसमें देश का हित, धर्म की रक्षा, पैसे की बचत, ग़रीबों की सहायता, हाथ की कारीगरी और कुलीनता का सौन्दर्य भी है तो अवश्य ही उसका असर सारे परिवार पर पड़ेगा। अवश्य सम्पूर्ण कुटुम्ब में उसका तात्कालिक प्रभाव पड़ जायगा।

यह केवल तर्क नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। सन् १९०५-०७ की हलचल के अन्तर्गत जो स्वदेशी का वातावरण देश में फैला था, उसमें हमने कितने ही विद्यार्थियों को देखा था कि उन्होंने अपने-अपने घरों में से तमाम विदेशी कपड़े निकाल कर फेंक दिये थे। सरकारी अधिकारियों के लड़कों ने भी अपने-अपने घर में स्वदेशी कपड़े और स्वदेशी चीनी का प्रचार किया था। मुझे यह कहते हुए आनन्द होता है कि अब भी उन घरों में देशी चीजें ही बरती जाती हैं। एक बार साफ़ किया हुआ घर प्रायः अधिकांश में फिर कभी अपवित्रता की ओर नहीं झुकता; हाँ, घर के एक-आध मनुष्य को स्वदेशी-विषयक प्रेम और आग्रह जरूर रखना चाहिए।

पर हमारी उन दिनों की स्वदेशी विशुद्ध नहीं थी, तो भी कोई यह न समझ ले कि हमारे घर में उसे प्रस्थापित करने में हमें

कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। परन्तु हममें मिशनरी उत्साह था। जो चीज़ गले उतर गई वह सभी के गले उतरनी ही चाहिए, ऐसा हमारा आग्रह था। हमारा हर एक निश्चय संक्रामक था। हमारी उत्कटता के सामने किसी का निरुत्साह या लापर्वाही ठहर नहीं सकती थी। माता-पिता हमारा उत्साह देख कर हमारे वश हो जाते थे। हमारी दलीलें उनके गले उतरें या न उतरें तो भी उन्हें हमारे कथनानुसार इसलिए चलना पड़ता कि कहीं हम अप्रसन्न न हो जायँ। वे इतना तो स्पष्ट देख सकते थे कि हमारा सङ्कल्प शुभ है, धर्म्य है और देश के कल्याण का है।

आज विद्यार्थियों में यदि खादी के विषय में यही लगन लग जाय, विदेशी के प्रति घृणा हो और अपने आसपास यही वातावरण फैलाने का उन्हें शौक हो तो वे अपने गाँव या शहर के बहुत से भाग को निष्पाप और निर्मल कर सकते हैं। हमारी उदासीनता ही विदेशी का बल है। जहाँ-जहाँ हमारे प्रेम का प्रभाव पड़ सकता हो वहाँ-वहाँ हमें स्वदेशी का वायुमण्डल बनाते रहना चाहिए। स्वदेशी विषय का हमारा प्रेम इतना निर्वीर्य तो कदापि नहीं होने पावे कि हमारे वातावरण में भी विदेशी कपड़े सिर ऊँचा करके घुस सकें। हरएक युवक को चाहिए कि वह जहाँ जाय अपना वातावरण लेकर ही जाय। इसके लिए असहिष्णुता सीखने की आवश्यकता नहीं, चिढ़ाने की जरूरत नहीं है, आक्रामक टीका करने का भी कोइ प्रयोजन नहीं है। जिस प्रकार मछली पानी में ही रह सकती है उसी प्रकार हमें भी अपने स्वभाव को ऐसा बना लेना चाहिए कि हम केवल स्वदेशी के वायुमण्डल में ही प्रसन्नतापूर्वक रह सकें।

पुराने खेत में नई जोत

एक वृद्ध ने मरते समय अपने लड़कों से कहा कि, हमारे खेत में धन गड़ा रक्खा है। उसके मर जाने के बाद लड़कों ने सारा खेत खोद कर देखा। पर उस समय उन्हें कहीं भी धन न मिला। पर उस वर्ष फसल इतनी अच्छी आई कि उसके आगे यदि गड़ा हुआ धन भी मिल गया होता तो वह किसी गिनती में न आता।

समाज में मामूली लोग हमेशा विचार-क्षेत्र ऊपर ही ऊपर जोतते हैं, अतः सामाजिक जीवन भी प्राकृत और क्षीण रहता है। परन्तु जबजब कभी 'धीर' पुरुषों ने विचार-क्षेत्र को उस वृद्ध के लड़कों के समान खूब गहरा खोदा है तब-तब बराबर विचार की फ़सल अपूर्व आई है। श्रीकृष्ण ने एक बार यह किया था, जिससे हिन्दू विचार-सागर में इतनी बाढ़ आई। बुद्ध भगवान् ने आत्म-प्रतीति के सिवा दूसरे किसी भी प्रमाण को मानने से इनकार किया—उससे आर्य-संस्कृति के ज्ञानाग्नि पर पड़ी हुई राख उड़ गई और आर्य-विचार-राशि रूपी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। फ्रान्स के डिडेरो और विश्वकोश के लेखकों ने विचार-क्षेत्र को जोत कर देख लिया कि मनुष्य-समाज का आधार किस तत्त्व पर है। और यूरोप में क्रान्ति हो गई, जन-साधारण स्वतन्त्र हो गये। मार्टिन लूथर ने भी अपने समय की धर्म-व्यवस्था को आग में रख दिया और फलतः

धर्म-कल्पना शुद्ध सुवर्ण रूप में उसे प्राप्त हो गई। इसी तरह मनुष्य जब-जब अन्ध-परम्परा को फेंक कर छोटे और बड़े प्रत्येक पदार्थ को 'कोऽस्मि। कस्मिंस्त्वयि वीर्यम्' × ऐसा प्रश्न करने का साहस करता है तब धर्म-संस्कार होता है, राष्ट्र में नवीन बल आता है, विद्वानों को नवीन दृष्टि मिलती है और इस दृष्टि का प्रभाव चौदहों विद्या और चौसठों कलाओं पर पड़ता है।

आज भारत में इसी तरह की तत्त्व-जिज्ञासा, धर्म-जिज्ञासा और कर्म-जिज्ञासा सुलग उठी है। हम प्रत्येक वस्तु के रहस्य को खोजते हैं, जीवन का परम रहस्य नये सिरे से जानकर आचरण में लाना चाहते हैं, नवीन समाज-व्यवस्था और नवीन आचार-विचारों के द्वारा उन्हें समाज में प्रविष्ट करना चाहते हैं, और इस नये प्राण को लेकर हम विचार-संसार पर शुद्ध सात्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते हैं। आज कृष्ण और शङ्कराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, और मसीहा तथा मेंहदी सभी नवीन अवतार धारण करने वाले हैं, नया रूप धारण करने वाले हैं; संभव है वे एकरूप भी हो जायँ। यह भी संभव है कि प्रत्येक विभूति अनेक रूप धारण करे, क्योंकि हम विचार-सागर का मंथन करने जा रहे हैं न!

× तू कौन है? और तुझ में क्या बल है?

भावना की तिजोरी

भावना की तिजोरी

स्त्री-हृदय राष्ट्र की तिजोरी है। जबतक राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं का स्वीकार स्त्रियों की ओर से न होगा, तबतक वे सुरक्षित नहीं। तिजोरी में किसी भी तरह की चीज रखना सुविधा-जनक है। हम उस तिजोरी को दलीलों के हथोड़े से नहीं तोड़ सकते। वहाँ तो श्रद्धा की चाबी ही काम दे सकती है।

जब-कभी समाज में कोई नया तत्त्व प्रविष्ट हुआ है तब-तब स्त्री-हृदय में भारी क्रान्ति हुई है। गो-रक्षा के लिए पुरुष भले ही जी चाहे उतना लड़े हों, किन्तु हलदी और कुङ्कुम से गौ की पूजा करके गाय को हिन्दू-धर्म के समान ही सात्विक बनाने का सम्मान तो स्त्रियों को ही है।

अहिंसा-धर्म को स्त्रियों ने जमानों से स्वीकार किया है। धर्म-पालन का उत्साह और पवित्रता सञ्चित करने के आग्रह में स्त्री किसी से हार नहीं सकती।

इसीसे राजनैतिक हलचल में कोई स्वाभाविक रुचि न होते हुए भी हरएक प्रान्त की स्त्रियाँ गाँधीजी के आन्दोलन को समझने लगी हैं। स्त्री-हृदय की भावना की कद्र करने जितनी सभ्यता सीखने में सरकारों को अभी देर है। परन्तु अहिंसा-धर्म का और गरीबों के प्रेम के धर्म का फैलाव करने में स्त्रियों को बहुत देर न लगेगी।

जिस तरह हिन्दुस्थान की स्त्रियों ने एक बार गो-रक्षा के लिए भारी परिश्रम किया था, उसी तरह अन्त्यजोद्धार और खादी-प्रचार के काम को हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ अपना लें तो हिन्दुस्थान में धर्म का पुनरुद्धार होने में अधिक देर न लगे। और यदि स्त्रियाँ इतना काम कर डालें तो कहा जायगा कि उन्होंने हिन्दुस्थान को स्वराज्य दिलाया।

प्रेम की कठोरता

स्त्री और पुरुष का ऐक्य बतलाने के लिए स्त्री को पुरुष का आधा अङ्ग कहा है। समाज को राह लगाने की शक्ति स्त्रियों में देखकर इस अर्ध को उत्तमार्ध नाम भी प्राप्त हुआ है। यदि समाज में यह आधा विभाग जड़ रहे तो उसका अर्थ यही होगा कि समाज को अर्धाङ्ग (वायु) की व्यथा हो गई; यदि पुरुष तो स्वदेशी धर्म की स्थापना करना चाहें, विदेशी से युद्ध छेड़ दें, और स्त्रियाँ विदेशी ही पहनकर फिरें तो समाज की क्या दशा हो?

हम शत्रु के साथ प्राणान्तक युद्ध करें और हमारी स्त्रियाँ शत्रु की सहायता करती रहें, ऐसी स्थिति किसी समय इतिहास में आपने देखी है? आज वह दशा हिन्दुस्थान में है। पुरुष शुद्ध खादी पहनते रहें और स्त्रियाँ विदेशी का आग्रह रक्खें यह दृश्य देखकर हिन्दू-संसार के विषय में कौन आशावान् रह सकता है? गृह-संसार में माता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों में यदि निरा स्वार्थी मोह न हो, कुछ भी प्रेम का अंश हो, तो एक को स्वदेशी धर्म में लिपटा देखकर दूसरे को प्रेम की उत्कटता के कारण तो जरूर विदेशी का त्याग सूझे।

हमें स्त्रियों के प्रति कुछ कोमलता अवश्य धारण करनी चाहिए। हमें स्त्रियों की स्वतन्त्रता न छीन लेनी चाहिए और हमें उन्हें आदर की दृष्टि से देखना चाहिए; यह सब योग्य है और

आवश्यक है। परन्तु स्त्रियाँ तो दुर्बल ही बनी रहेंगी, स्त्रियाँ कभी मोह पर विजय नहीं प्राप्त कर सकतीं, स्त्रियों को समझाना अशक्य है, यह कहकर उनकी उपेक्षा करना या उनके प्रति दया दिखाना उनका अपमान करने के तुल्य होगा।

स्त्रियों का स्वभाव भावनामय होता है। यह मानने के लिए कोई भी कारण नहीं कि धर्म-पालन में वे हमसे पीछे रह जावेंगी। हमने स्त्रियों को समझाने का प्रयत्न ही नहीं किया। जितना काम दबाव से हो सके उतना ही करा लेने को हम ललचाते हैं। हम चाहते हैं कि बिना ही परिश्रम कुटुम्ब में नये संस्कार प्रविष्ठ हो जायं। किन्तु यह दुराशा है। बिना परिश्रम तो खराब चीजें ही प्रविष्ट हो सकती हैं। हर एक अच्छी वस्तु कष्टसाध्य होती है। यदि घर-संसार सुधारना है तो स्वयं दुःखी होना पड़ेगा और दूसरों को भी दुखी करना पड़ेगा। एक-दूसरे की कमजोरी को उत्तेजना देने से हम कुछ दिन मजे में रहेंगे, परन्तु उसमें प्रेम का खून ही होगा। प्रेम प्रसङ्गोपात्त कठोर हो सकता है; अथवा यों भी कह सकते हैं कि जीवन में केवल प्रेम ही को कठोर बनने का अधिकार है।

जिन लोगों ने वैष्णव धर्म चलाया, मर्यादायें बाँध दीं; उनमें कम कठोरता नहीं थी। उस कठोरता ही के कारण समाज इतना शुद्ध, संस्कारी, और कला-रसिक हुआ है। शुद्ध जीवन बिताने के लिए भारतीय स्त्रियों ने जितनी कठोरता सीखी है उतनी शायद ही दूसरा कोई समुदाय सीख सकेगा। यह मान लेना हमारी दुर्बलता का सूचक है, कि आज स्त्रियाँ न मानेंगी। दमयन्ती को आधा वस्त्र देते और सीता को वल्कल परिधान करते समय

क्षणमात्र भी विचार नहीं करना पड़ा था। स्वदेश-रक्षा के लिए कार्थेज की स्त्रियों ने अपने बाल भी उतार दिये थे। पुरुषों को शहीद बनाने के लिए उन्होंने अपने बालों की पनच गुण बना दी थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए अपना और समाज के सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्रियों ने अबतक क्या-क्या नहीं कर दिखाया ?

अश्रद्धा छोड़कर और मिथ्या खुशामद त्याग कर हमें स्त्रियों से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे धर्म-संरक्षणार्थ हमें सहायता दें, हमें प्रेरणा करें। विदेशी कपड़े से हिन्द-माता की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा लुटी जा रही है।

सहधर्म-चारिणी

हम बच्चों को खेलाते, हैं उनपर प्यार करते हैं, दुलारते हैं, उनको प्रसन्न करने का मौक़ा देखते हैं, और उनके साथ क्रीड़ा करते हुए संसार के तमाम दुःखों को क्षण भर के लिए भूल भी जाते हैं। तथापि हम उन्हें अपनी संसार-यात्रा का साथी नहीं गिनते। न उनकी सलाह लेते हैं। अपनी कठिनाइयाँ भी उनके सामने नहीं रखते। उनकी इच्छा-अनिच्छा को भी अधिक महत्व नहीं देते। हाँ, उनके हठ के वश भले ही हो जाते हैं, लेकिन प्रसन्नतापूर्वक नहीं; झुंझला कर ! क्योंकि बच्चे आखिर बच्चे ही होते हैं, लापर्वा हैं, एक तरह से हमारे खिलौना होते हैं पर क्या स्त्रियों के प्रति भी हमें इसी वृत्ति को धारण करना चाहिए? हम उनपर प्रेम की वर्षा करते हैं, उनको अच्छे-अच्छे कपड़े देते हैं, गहने देते हैं,। उनका काम हलका करने के लिए नौकर रसोइया, आदि रख लेते हैं; इधर-उधर जाने-आने के लिए गाड़ी-घोड़ा रखते हैं, नाटक-सिनेमा आदि देखने के लिए अपने साथ ले जाते हैं। यदि वे लिखना-पढ़ना जानती हों तो उपन्यास खरीद कर उन्हें देते हैं, या पढ़ कर सुनाते हैं। अनायास उन्हें काव्य-रस का परिज्ञान हो गया हो तो कवितायें पढ़कर सुनाते हैं, प्रणय-मीमांसा अथवा परिणय-मीमांसा पर मधुर विवाद करते हैं और अवकाश पाने पर कला पर भी बात-चीत या संभाषण करते हैं। पर क्या मनुष्य-जीवन में स्त्री के लिए इतना ही स्थान है। देश

की स्थिति, समाज की दशा, धर्म का संशोधन, सामाजिक फेरफार आदि गम्भीर प्रश्नों पर विचार करने के लिए हमें उन्हें निमन्त्रित नहीं करना चाहिए? ऑफिस अथवा शेअर-बाजार में सिर खपाकर भरसक थक जाने पर हम जब घर को आते हैं तो हमें मंद-मंजुल वार्तालाप श्रवण करने को मिलता है। इसलिए क्या हम उन्हें (स्त्रियों को) जीवन के वास्तविक और यथार्थ स्वरूप से अपरिचित रखें? शिक्षित स्त्रियाँ चिट्ठी-पत्री लिख लें, सभा में बैठने-बोलने की शैली सीख जायँ, कुर्सी पर बैठे-बैठे गोद में यदि कुत्ता या बिल्ली न हो तो रेशम की गेंद ले कर कला-कौशल का काम करना सीख लें तो क्या वह काफ़ी है?

इस चित्र में शायद अतिशयोक्ति भी हो। पर क्या हम निःसंकोच होकर यह कह सकते हैं कि ऐसे आदर्श का हमें खयाल नहीं होता, अथवा धीरे-धीरे उधर हमारी प्रवृत्ति नहीं हो रही है? वे सीना-पिरोना जानती हैं, पर इस कारण क्या हमारे दर्जी का बिल घट गया है? यदि कम हुआ भी हो तो कितने कुटुम्बों में? कितने शिक्षित कुटुम्बों में हम ऐसे उदाहरण देख सकते हैं कि भाई के कुर्ते फटने पर बहन उनकी मरम्मत कर देती है? कला का ऐसा सदुपयोग कितने कुटुम्बों में हो रहा है?

पुराने लोगों ने तो अवश्य ही स्त्रियों की दुर्दशा की है, उन्हें भोग-विलास का पशु ही समझा है। पर अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि नवीन लोगों ने उनका उद्धार ही किया है। कहीं-कहीं स्त्रियों को एक-आधा उद्यम सिखाकर उनकी आर्थिक स्वाधीनता का रास्ता जरूर सुगम कर दिया है, पर केवल इतना कर देने भर से कुटुम्ब और समाज में उन्हें अपना स्वाभाविक स्थान

नहीं मिल सकता। आज तो स्त्रियों को जो पढ़ाया जा रहा है उसका स्पष्ट उद्देश यही होता है कि वे कुटुम्ब को छोड़कर अपनी आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न हल कर लें। पर कुटुम्ब को साथ में ले कर आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने या प्राप्त कर देने की दृष्टि शायद ही कहीं देखी जाती है।

सहधर्मचारिणी इस शब्द में स्त्री का यथार्थ वर्णन है। आसन पर बैठकर जब पुरुष कोई धार्मिक कृत्य कर रहा हो उस समय उसके पास बैठकर केवल उसके हाथ को हाथ लगा देने भर से कहीं वह सहधर्मचारिणी नहीं हो जाती। ज्ञान में और कर्म में, उत्साह में और चिन्ता में पुरुष को चाहिए कि वह स्त्री को अपने साथ रक्खे। घर में स्त्रियों को अधिक सुख मिले, अथवा उनके प्रति अधिक शिष्टतापूर्वक व्यवहार हो इतने भर से उनकी उन्नति नहीं होगी। यह तो हर कोई संस्कारी पर विषयी मनुष्य भी करने के लिए तैयार हो जायगा। पर इससे यह न कहा जायगा कि वह नारी-प्रतिष्ठा के रहस्य को समझ गया। फ़र्ज़ कीजिए कि यदि किसी दिन स्त्रियाँ हमारी सभी हलचलों पर अपना अधिकार जमा लें और आज हम उन्हें जिस तरह रखते हैं उसी तरह वे हमको रखने लगें, तो क्या उस स्थिति में हमारी तमाम आकांक्षायें तृप्त हो जायँगी? क्या हमें आत्मिक संतोष प्राप्त होगा?

स्त्री-पुरुषों की शरीर-रचना में भेद है, स्वभाव में भेद है, और संसार-यात्रा के कर्तव्यों में भी भेद है। पर दोनों का उत्तरदायित्व तो एक-सा ही होना चाहिए; दोनों का आनन्द एक-सा ही होना चाहिए; आशा, आकांक्षा; भय और चिंता भी एकसी ही होनी चाहिए। बिना उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ के प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त

हो सकती, न टिकती ही है। उत्तरदायित्वहीन प्रतिष्ठा व्यर्थ का शिष्टाचार है, खुशामद है, अथवा सभ्य मजाक है। शिक्षा के मानी अलंकारिक संस्कार, या बाह्य आडम्बर नहीं। शिक्षा है उत्तरादायित्व को समझने की शक्ति, उत्तरदायित्व का उत्साह-पूर्वक आह्वान कर होशियारी के साथ उसे निबाहने की शक्ति। जब-तक स्त्रियों को ऐसी शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल जाती तबतक स्त्री-स्वातंत्र्य अमृत संजीवनी होने के बदले उनको ठगने का एक मोहिनी-मन्त्र ही रहेगा।

याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच बाँटकर स्वयं ब्रह्मानंद में लीन होना चाहते थे। इसपर मैत्रेयी ने उन्हें खरी-खरी सुना दी। आपको जो खास चीज प्राप्त हुई है, जिसके आनन्द में आप यह सम्पत्ति हमें देने की आयोजना कर रहे हैं, वही मुझे दे दीजिएगा न? आप हमें अपनी संपत्ति दे रहे हैं पर मैं पूछती हूँ कि आप समस्त संसार की संपत्ति हमें दे दें तब भी क्या हमें वह मिल सकता है जो आपने प्राप्त कर लिया है? आखिर याज्ञवल्क्य को कबूल करना पड़ा कि मैत्रेयी उससे नीची कोटि की विभूति नहीं थी। सावित्री के प्रति उसके पिता, नारदमुनि, श्वसुर, और पति सब ने दया दिखाई। पर उस मानिनी ने किसी एक की न मानी। अपना स्थान (दरजा) छोड़कर वह सुखी रहना नहीं चाहती थी। वनवास के प्रसंग पर श्रीराम ने भी सीता के प्रति खूब दया दिखाई, अरण्य के कष्टों का भयंकर वर्णन कर उसे घर पर रहने का उपदेश किया पर जनक-तनया और राम-पत्नी कहीं दया का पात्र बनने को थी? राम को शर्माते हुए उसने कहा "मैं आपके लिए भार-रूप नहीं होऊँगी। जंगल

में काँटे तथा घास के ठूँठ पैर से दबाकर आगे-आगे आपका रास्ता साफ करती जाऊँगी।" ब्रूटस की पोर्शिया ने भी क्या ही कहा है- "पत्नी की हैसियत से पति की समस्त चिंताओं में और रहस्य में उसकी समभागिनी बनने ही में मेरी प्रतिष्ठा है।"

समाज में जब सीता, सावित्री, और दमयंती का स्थान स्त्रियों को प्राप्त होगा, सीता, सावित्री और दमयंती का आदर्श पुनः ताजा होगा तभी स्त्रियों की उन्नति होगी और स्त्रियों की उन्नति होने पर ही क्षीणसत्त्व देश की उन्नति होगी।

स्त्रियों का अवसर

डाक्टर लोग कहते हैं कि जबतक शरीर में हृदय अच्छा है तबतक दूसरी व्याधियाँ कितनी ही हों तो भी मनुष्य उन्हें निभा सकता है, किन्तु यदि हृदय घड़ी भर के लिए भी काम करने से इनकार करदे तो शरीर रह ही नहीं सकता। शरीर में जो स्थान हृदय का है वही स्थान समाज-शरीर में स्त्रियों का है। जबतक स्त्रियों ने युगधर्म नहीं पहचाना तबतक समाज आगे नहीं बढ़ सकता।

हमारी समाज-रचना ही ऐसी है कि कोई भी नई वस्तु स्त्रियों तक शीघ्र नहीं पहुँचती। एक तरह यह ठीक है, क्योंकि इसीमें समाज की भलाई बनी रहती है। स्त्रियों ही के कारण तरह-तरह की स्थिरता अपने कौटुम्बिक तथा सामाजिक जीवन में हम सञ्चित कर सके हैं। किन्तु समाज के लिए इतनी स्थिरता पर्याप्त नहीं। पानी जब स्थिर रहता है तब खराब हो जाता है, हवा स्थिर होती है तब दुर्गन्ध आने लगती है और समाज भी जब आगे बढ़ने से इनकार कर देता है तब सड़ता है। हमारी हलचल सामान्यतः समाचारपत्रों और भाषणों-द्वारा ही चलती है, और ये दोनों साधन देश की लाखों और करोड़ों स्त्रियों तक नहीं पहुँचते। समाचारपत्र तो पढ़े-लिखों के लिए होते हैं और व्याख्यान यह एक शहर की वस्तु है। पुराने काल में मन्दिरों के

द्वारा लोक-शिक्षण का काम होता था। पौराणिक और आचार्य-गण लोगों को धार्मिक और व्यावहारिक उपदेश देते थे। रमते हुए साधु-जन घर-घर जाकर उपदेश करते थे; और यह सभी एक मुट्ठी-भर अनाज के बदौलत।

पर अब वह जमाना नहीं रहा। मन्दिर भुने हुए चने की तरह अपना स्वरूप बदलने से इनकार करते हैं। आचार्यों या उपाध्यायों या पुरोहितों ने न तो वह पुराना ढर्रा सीखा और न वे देख सकते हैं नई परिस्थिति। पौराणिक और साधु अपनी निस्पृहता के कारण एक दिन गुरु-स्थान में थे, अब बहुतेरे स्वाभिमान-शून्य आश्रित बन गये हैं। वे समाज-सेवा क्या कर सकते हैं?

पर जबतक घर-घर उपदेश पहुँचाने की कोई भी व्यवस्था न हो तबतक स्त्रियों में जागृति कहाँ से आवे? यदि पढ़ी हुई स्त्रियाँ मन में धरें तो वे स्त्री-जागृति का काम सुगमता से कर सकती हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उनमें प्रधान और गौण का तारतम्य नहीं रहा। समाज के सुधार के लिए हजारों उलट-पलट करने की आवश्यकता है, परन्तु राष्ट्रीय आपत्ति दूर करने के लिए आज अभी उन्हें क्या करना चाहिए इसका वे विचार नहीं करतीं। जहाँ समाज को खाने-भर को रोटी भी नहीं मिलती वहाँ मसालों और मुखवासों की सुविधा करने में समय खराब करना यह कितना विचित्र है!

स्त्रियों को समाज का निरीक्षण करना चाहिए और समाज को स्थिर रखने के लिये कौन-कौन से उपायों की योजना हो इसका विचार करना चाहिए। जब इस सम्बन्ध में पुरुषों

ने ही इतनी ढील-ढाल की तब बेचारी स्त्रियों का तो दोष ही कैसे निकाला जाय ? परन्तु समय ही ऐसा आया है कि राष्ट्रीय आपत्ति के सामने लड़ने के लिए एक-एक व्यक्ति को तैयार होना चाहिए ।

स्त्रियों ने जिस श्रद्धा से दया-धर्म सीखा, जिस श्रद्धा से उन्होंने वैष्णव धर्म का स्वीकार किया, जिस निष्ठा से उन्होंने शील-रक्षा के लिए प्राण-विसर्जन भी कर दिये, उसी निष्ठा से उन्हें स्वदेशी का पालन करना चाहिए । विदेशी कपड़े खरीदने में स्त्रियों के हिस्से का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि देश के लिये मरने को तैयार हुए लोगों को विदेशी कपड़े के सम्मुख धर्मयुद्ध की घोषणा करनी पड़े यह स्त्रियों के लिए शोभा नहीं देता । यदि गुजरात की धर्मनिष्ठ स्त्रियाँ दो महीने के लिए विदेशी कपड़े का बहिष्कार कराने के लिए घर-घर जाना निश्चित करें तो फिर विशेष प्रयत्न करना ही न पड़े । स्त्रियों ने परदेशी कपड़ों का त्याग किया नहीं और उसका समूल नाश हुआ नहीं ।

स्त्रियों की मन्दिरों में खास श्रद्धा होती है । यदि मन्दिरवाले प्रयास करें तो स्त्रियों में देखते ही देखते परिवर्तन हो जाय । और यदि स्त्रियाँ प्रयत्न करें तो मन्दिरों में भी उतनी ही शुद्धि देखते-देखते हो जाय । प्लेग और इन्फ्लुएंजा के लिए लोग शहर छोड़-छोड़ कर बाहर खुली हवा में रहना सीखें । यदि प्लेग न आता तो घरों में चिपके रहनेवाले हम लोग किसी समय शुद्ध हवा के महत्त्व को समझ ही न सकते । उसी तरह हमने स्वदेशी धर्म का पालन नहीं किया इसीलिए हमारे ऊपर दूसरों का राज्य आ गिरा और देश में भुखमरेपन ने घर किया । अब तो

लोगों को चेतना ही चाहिए। घर-घर जाकर स्वदेशी का महत्त्व समझाना चाहिए। प्रसिद्ध व्याख्यानों में एक मनुष्य भाषण देकर हज़ारों मनुष्यों को समझा सकता है यह बात सच है, किन्तु वहाँ भाषण करनेवाले और सुननेवाले में दृढ़ सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु पहचान के मनुष्यों के घर जाने में परिचय के कारण अच्छा प्रभाव पड़ता है और बिना भय बतलाये नैतिक कल्याण की ओर प्रेरित किया जा सकता है। घर-घर जाने ही से स्त्रियों में जागृति हो सकती है।

जातियों में पञ्च और महाजनों के द्वारा हम हद से बाहर काम लेने का प्रयास करने लगे अतएव जातियों के नियम निष्प्राण हो गये। किन्तु अभी जाति-बन्धन ढीला नहीं हुआ। कोई भी मनुष्य अपनी ही जाति के मनुष्य को समझाने जाय तो वह सुगमता से समझा सकता है और जाति के भीतर जाति-भाई प्रेम-पूर्वक एक-दूसरे पर निगरानी रख सकते हैं। जाति का महाजन बहुतेरी बार सत्ता ही की रुख से काम लेना चाहता है। सत्ता के द्वारा हृदय का पलटाव नहीं होता और जबतक हृदय न पलट जाय तबतक स्वदेशी-धर्म सुरक्षित नहीं रहता।

हृदय का पलटाव करा देना यह काम स्त्रियों का है। आज मुख्यतः स्त्रियों में काम होना चाहिए। ऐसा हो जाने पर स्त्रियाँ ही स्वदेशी के प्रश्न का उत्तर देंगी।

बहनो जागो

बहनो,

तुम जानती हो कि जहाँ तक हो सकता है, पुरुष-बाह्य व्यवहार का भार तुम्हारे सिर पर नहीं डालते । तुम घर की व्यवस्था में ही मशगूल रहती हो । सगे-सम्बन्धी और बाल-बच्चे यही तुम्हारा संसार है। बाहरी संसार तुम्हारे लिए प्रत्यक्ष नहीं । जब कठिन समय आता है तभी पुरुषवर्ग विवश हो तुम्हारे पास आता है, और वस्तुस्थिति का भान तुम्हें कराता है ।

जबतक व्यापार-उद्योग ठीक चलता रहता है तबतक व्यापारी अपनी स्त्री के साथ अपने व्यापार-सम्बन्धी कोई बात नहीं करता । घर की बातें घर में और बाहर की बातें बाहर ही रहती हैं । परन्तु जब दीवाला निकलने का प्रसङ्ग आ जाता है तब वह दीन बन जाता है और सभी बातें घर में अपनी पत्नी को भी कहने लगता है । और स्त्रियों ने भी अनेक बार ऐसे अवसर पर पुरुषों को हिम्मत और सहायता दे कर आये हुए संकट को टाला है ।

आज देश में यही दशा है । देश में फाकेकशी असह्य हो रही है । करोड़ों मनुष्यों को दिन में एक बार भी पेट-भर खाने को नहीं मिलता, फिर भी करोड़ों रुपये परदेश जाते हैं । देश के जुलाहों का वर्ग टूट जाने का समय आ लगा है। इज्जतदार

किसान कुटुम्ब तहस-नहस होते जा रहे हैं, और मिलों में या बाहर मजदूरी करने जा रहे हैं। पशु-कुटुम्बादि की रक्षा कठिन होती जाती है। लोग मामूली सुखी लोग ग़रीबों का विचार तक नहीं करते। इतना स्वार्थ ईश्वर के यहाँ कैसे स्वीकार होगा? देश में दया-धर्म का दीवाला निकल गया है। ऐसी स्थिति में बाहर दौड़ कर हम किसे बुलालें? चौबीसों घण्टे स्वार्थ में मशगूल रहने वाले पुरुषों के कानों में तो ढक्कन लगे होते हैं। वे धर्म की बात सुनते ही नहीं। और जिन्होंने उस बात को सुना है वे तो सर्वस्व दे बैठे हैं। किन्तु ऐसों की गिनती ज्यादा नहीं।

पुरुष कहते हैं, तुम्हारी बात सच है, पर यदि यह मान ली जाय तो हम अपने बच्चों को क्या खिलावें?

क्या सचमुच खिलाने का सवाल खड़ा हो जाता है? नहीं। बेचारे पेट को कितना चाहिए? पेट तो सेर भर धान से भर जाता है। अतृप्त तो रहती है भोग-विलास की लालसा। पेट के बहाने हम सभी कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। पेट के नाम पर लोग कितना अधर्म कर डालते हैं?

इसी तरह हर तरह का अधर्म स्त्री और बच्चों के नाम पर— आपके नाम पर होता है। क्या यह आपका ऐसा-वैसा अपमान है? एक मनुष्य झूठी गवाही देने का उद्योग करके धन कमाता और अपनी स्त्री के लिए गहने बनवाता था। उस स्त्री को इस बात का पता लगते ही उसने तुरन्त सब गहने-गाँठे और क़ीमती कपड़े उतार कर पति के सम्मुख रख दिये और एक साधारण वस्त्र पहन कर कहा कि प्रतिष्ठा इसी में है। हजारों मनुष्यों की हाय से प्राप्त किया हुआ धन हराम है।

आज विदेशी कपड़ों से सजना कुलीनता नहीं है। विदेशी कपड़े के व्यापार से मिलने-वाला धन देश को डुबो देने वाला धन है। उससे हमारा कल्याण नहीं होगा। आप इतना समझ लेंगी तो विदेशी कपड़े का आपका वह मोह एक दम उतर जायगा। विषयों का गुलाम पुरुष वर्ग आपको स्वदेशी की दीक्षा देते हुए डरता है। वह अपना अधिकार गँवा बैठा है। अब यह बात आप को ही समझ लेनी चाहिए और खुद स्वदेशी की दीक्षा लेकर पुरुषों को भी स्वदेशी के उपासक बना देना चाहिए।

आप अज्ञानी भले ही होंगी, पुरुषों के समान पतित तो कदापि नहीं है। शोभा से शील का महत्व आपके नजदीक अधिक है। जरा सोचिए तो कि पुरुष अधर्म-द्वारा आपके सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयत्न करें, इसमें आपका कितना अपमान है, अतः और नहीं तो केवल अपने सम्मान के लिए ही धर्म की ओर झुककर आप शुद्ध खादी को अपनाइए।

खादी पहनने का निश्चय कर लेने के बाद चरखा कातना आपके लिए जरा भी मुश्किल नहीं। वह उद्योग तो एक रानी को भी शोभा दे सकता है। कहानियों में हम सुनते थे कि राजा रानी सोने के चरखे से सूत कातते थे। बढ़िया पूनियों में से दूध की धारा के समान बरीक सूत कातने में कितना आनन्द और विश्राम मालूम होता है। बस यह बात आपके दिल में जमने भर की देरी है।

मुक्तावलि

निष्पाप जीवन में जो सुंदरता है वह बिना अनुभव के नहीं मालूम हो सकती।

प्रेम सुंदर है।

जीवन्मुक्त, मुमुक्षु, संसारी अथवा पतित, सभी एक ही संसार में रहते हैं और एकही-सा काम करते हैं। परन्तु उनका हेतु भिन्न-भिन्न होने से उन्हे फल भिन्न-भिन्न मिलते हैं।

आत्म-निवेदन—गुरु चरणों में आत्म-समपर्ण कर देने-से निश्चिन्तता का आनन्द प्राप्त होता है।

खूबी तो तब है जब मनुष्य अपनी कल्पना को खुद ही कार्यान्वित करके दिखा दे।

उपादान का यथार्थ ज्ञान प्रतिभा को प्रेरित करता है।

मनुष्य का गुरु काम है।

अपने आसपास मित्र इकट्ठे कीजिए, खुशामदियों अथवा अन्ध-भक्तों को नहीं।

नीति-नियमों की अपेक्षा प्रेम. दाक्षिण्य, दया और सहृदयता आदि स्निग्ध-भाव कहीं अधिक कीमती हैं।

विस्मृति प्राण क्षीण होने का लक्षण है।

जिस समाज से धर्म का लोप हो जाता है उसकी स्मृति अर्थशास्त्र ही बन जाती है।

आज हमारे समाज को मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों की जरूरत है। समाज-व्यवस्थापक आचार्य तो अपने-आप आ मिलेंगे।

दान की अपेक्षा त्याग का महत्त्व अधिक है। दान देकर हम ग़रीबों के कष्टों को कम करते हैं परन्तु सम्पत्ति का त्याग करने से तो हम ग़रीबों की ग़रीबी को ही दूर कर देते हैं। कई बार हम दान द्वारा सामाजिक पाप को ही छोड़ देते हैं।

बेगार में पकड़ा हुआ आदमी आवश्यकता से कम काम करता है। साधारण मजूर मजूरी के पैसों के जितना काम कर देता है। परन्तु कारीगर अपने काम के प्रेम के कारण अपनी मजूरी की अपेक्षा भी कुछ अधिक ही काम कर जाता है। कारीगर कृपण नहीं होता।

शहर गाँवों की सुन्दरता को लूट लाते हैं, परन्तु वे सुन्दर नहीं बन सकते।

जो लड़का अपने समय का सदुपयोग कर सकता हो उसका संपूर्ण विकास तभी होगा, जब आप उसे संपूर्ण स्वाधीनता दे देंगे।

खेती का प्रेम होना प्रभुता का लक्षण है। परन्तु खेती से खूब पैसा कमाने की हौंस का नाम खेती का प्रेम नहीं है।

आप चाहे कितना ही प्रगति का ढोल पीटते रहें परन्तु संसार से जो विश्रान्ति (Repose) चल बसी है वह जबतक लौट करके नहीं आवेगी तबतक संसार की दशा दयनीय ही बनी रहेगी।

यह संसार-चक्र प्रचण्डवेग से दौड़ा जा रहा है। परन्तु कहाँ ? किसी को पता नहीं है कि कहाँ ? क्योंकि ईश्वर पर श्रद्धा ही किसे है। मनुष्य को तो यही समाधान है कि जो सब का हाल होगा वही मेरा भी होगा।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १=)
३—तामिलवेद ।।।)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ।।≡)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १।।।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।।।≡)
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) ६।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर (गांधीजी) ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)।।
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १।।≡)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।=)
२९—आत्मोपदेश ।)